Indian Traditions in Linguistics

भारतीय भाषाशास्त्र की परम्परा

RADHAVALLABH TRIPATHI
• ACHYUTANAND DASH

Indian Linguistics has its inception in the Vedic period and ever since, a vast literature on the theories of Word and Meaning was produced in Sanskrit. The papers presented in this volume attempt an indepth study of the vast gamut of Sastric Learning in Indian Linguistics and investigate its relavance in the light of modern Linguistics.

The papers in this volume are on various issues like the essential nature of the language, Phonetics & Phonology, Morphophonemic study, Semantics, case-theory, Syntactic Deviance, Varna-sphota, theories on the relation of word & meaning, Stylistics and Computational Linguistics. These papers bring out a world view of Linguistic theories.

Rs. 200

INDIAN TRADITIONS IN LINGUISTICS

(Procceedings of U.G.C. National Seminar)

भाषाशास्त्र की भारतीय परंपरा

EDITED BY

Dr. Radhavallabh Tripathi
Dr. Achyutanand Dash

PRATIBHA PRAKASHAN
DELHI

Published under the authority of
Dr. Harisingh Gour University, Sagar.

First Edition, 1993

Price : Rs.200.00

ISBN : 81 - 85 268 - 22 - 3

Published by :
Pratibha Prakashan,
(Oriental Publisher & Booksellers)
29/5, Shakti Nagar,
DELHI 110 007

Laser Typesetting By:
Compu-Media-The D.T.P. People,
43, Banglow Road, Kamla Nagar, Delhi-110 007.
Ph. 2911869

To

The Memory of

Dr. PRATAPCHANDRA

PREFACE

The present work comprises some of the papers presented in the National Seminar on the 'Tradition of Linguistic Thought in Sanskrit' held under the auspices of the Department of Sanskrit, Doctor Harisingh Gour University, Sagar, from 8th to 10th October, 1990. Researches on linguistics, in modern times, have been carried on extensively at every corner of the academic world. But study on linguistics in India started right from the Vedic period and a vast literature on this subject is available in Sanskrit Śāstric tradition. This seminar aimed at making an indepth study of the vast gamut of Śāstric learning in Indian linguistics and investigating upon its relevance to the modern linguistics.

The papers in this volume are on various issues, like, the Essential Nature of the Language, Phonetics and Phonology, Morphophonemic Study, Semantics, Case-theory, Syntactic Deviance, Varṇa-sphoṭa, Theories on the relation of word and meaning, and Stylistics and Computational Linguistics. These papers bring out a world-view of linguistic theories.

Some papers have been translated from Sanskrit to English with a view to circulate their contents for larger readership. We are conscious of the limitations of this humble effort, which merely touches the fringes of a very potential subject, but we do hope that this volume will open the enormous possibilities of studies and researches in the field of linguistics and it will also extend the frontiers of traditional Indian linguistics.

- Editors

CONTENTS

1

ऋग्वैदिक वाक् की अवधारणा

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी

"भाषा सीखने के लिए, बच्चे के पास, प्राथमिक भाषायी सामग्री मिलने पर, समुचित व्याकरण बनाने की कोई विधि अवश्य होती होगी। भाषा-अधिगम के पूर्वनिर्धारक के रूप में उसके पास प्रथमतः एक भाषा सिद्धांत होता होगा, जो संभाव्य मानवभाषा के व्याकरण के रूप को विनिर्दिष्ट करता है, और, द्वितीयतः प्राथमिक भाषा-सामग्री के संगत व्याकरण के समुचित रूप को चुनने की कोई पद्धति होगी।"

(चाम्स्कीः १९७५, पृ. २२)

१. चाम्स्की ने हमारी शताब्दी में भाषा में निहित नैसर्गिक व्यवस्था, भाषागत सार्वभौम नियमों तथा उसे सीखने वाले बच्चे में उनका 'अंतर्निहित ज्ञान' होने की चर्चा उठायी है। चाम्स्की की ये मान्यताएं उन्हें एक अर्थ में वाक् की उस अवधारणा के निकट ले जाती हैं, जिसका प्रस्थान बिंदु ऋग्वेद है। वाक् किसी भाषाविशेष का रूप न होकर इस परंपरा में संपूर्ण मानवभाषा का परमतत्त्व है, जिसकी एक परिणति भाषाविशेष में संभाव्य है। वैदिक ऋषि जहां वाक् रूपी मूल तत्त्व से सारी भाषा-व्यवस्था के निःसृत होने की बात करते हैं, तो चाम्स्की इसके व्युत्क्रम में चलते हुए भाषा विशेष को सीखने के लिये 'सार्वभौम भाषानियमों या संभाव्य मानवभाषा' की बात करते हैं।

२. वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म, प्रजापति तथा वाक्-ये तीनों संज्ञाएं अनेकत्र पर्याय के रूप में प्रयुक्त हैं। और ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक संहिताओं में ब्रह्म शब्द स्तोत्र या सूक्त के अर्थ में भी व्यवहृत हैं (द्र. ऋ., १.२४.११, २. २.७, १०.६६.१२, १०.६५.१४; वाज. संहिता; १८,४९)। इस ब्रह्म की जननी वाक् है। वही इसकी नियामिका भी है। वाक् भाषिक सर्जना की मूल शक्ति है। इस दृष्टि से उसे त्वष्टा या प्रजापति भी कहा गया है। 'वाग् वै त्वष्टा.....' यह वाक्य ब्राह्मण-ग्रंथों में बार-बार दोहराया गया है।

अपने मूल रूप में यह वाक् अद्वैत चैतन्य-रूपिणी है। यह जगत् की आरंभक और आविष्कारक भी है। वाक्-सूक्त में वाक् देवता के द्वारा कहलाया गया है-

अहमेव वाता इव प्रवामि ।
आरभमाणा भुवनानि विश्वा ।।

(ऋ., १०.१२५.२)

३. वाक् मनुष्य के भीतर सर्जना की शक्ति के रूप में अंतर्निहित है, और वही उसके सर्वोच्च को व्यक्त, कराने में उपादान बनती है । उसका सर्वोत्तम गुहा में निहित है-यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः (ऋ., १०.७१.१) । इसी गुहा को आगे चल कर वैयाकरण- दर्शन ने 'परा वाक्' की संज्ञा दी ।

वैदिक द्रष्टा वाक् को यदि मनुष्य की भाषागत सर्जना के उत्स के रूप में देखते हैं, तो इस सर्जना-व्यापार की प्रक्रिया पर भी वे विचार करते हैं । यह सर्जना-व्यापार मनुष्य के मन में होता है । इसके आरंभ के सोपानों में एक अर्थ में सर्जक तथा सर्जना-व्यापार में अभेद है । इसीलिए वैदिक द्रष्टा कहते हैं कि वाक् के चार पदों में से तीन तो 'गुहा' में है, केवल तुरीय या अंतिम चरण का ही व्यवहार मानव जाति करती आयी है-

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचं मनुष्या वदन्ति ।।

(ऋ., १.१६४.४५)

सायणाचार्य ने इस मंत्र के भाष्य में वाक् के चार पदों से आशय परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी--वाणी के इन चार रूपों से लिया है । अथर्ववेद में वाक् के संबंध में उसके क्रमिक अभिव्यक्ति के सापोनों की इन अवधारणाओं को और स्पष्ट करते हुए बताया है कि वाणी के तीन रूप तो अंतर में स्थित हैं, उनमें से एक घोष-रूप बनकर बाहर आता है-

शिवास्त एका अशिवास्त एका
सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानाः ।

तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्
तासामेका निपपात घोषम् ॥
(अथर्व., ९.४३.१)

वाक् के जो प्रथम तीन चरण मनुष्य के चैतन्य में अनुस्यूत रहते हैं, उनमें विचार और शब्द का विभाजन प्रतीयमान नहीं होता । यह विभाजन तो वाक् के चतुर्थ रूप, वैखरी, वाणी-में ही प्रतीत होता है । पर विचार और शब्द के बीच क्रम अवश्य पहले के तीनों चरणों में भी रहता है । परमार्थतः वैदिक मनीषियों की दृष्टि में वाक् अखंड है, तो उसमें शब्द और अर्थ के बीच विभाजन की धारणा काल्पनिक ही हो सकती है। व्यवहार के स्तर पर हमें यह विभाजन स्वीकार करना पड़ता है, तो शब्द और अर्थ के बीच अंतःसंबंध तथा क्रम पर विचार करना भी अपेक्षित हो जाता है । सस्यूर जब कहते हैं कि जिस क्रम में हम विचार करते हैं, वाक्य में शब्दों का विन्यास भी उसी क्रम में होता है, तो वे वाक् के अंतर्निहित चरणों और उसके उच्चरित रूप के बीच एक अंतःसंबंध और क्रम को स्वीकार करते हैं ।

ऋग्वेद में कहीं वाणी के चार सोपानों की बात है, तो कहीं तीन की । वाक् के परम पद-परा वाक्-तथा शब्दार्थयुगलरूप उसकी अभिव्यक्ति के तीन सोपानों में उसका विवर्तन या परिणाम, जो पश्यंती मध्यमा और वैखरी के रूप में बाद में व्याकरणदर्शन में विवेचित हुआ-ऋग्वेद के इन स्थलों में संकेतित है ।

४. परम तत्त्व के रूप में वाक् मानवचैतन्य में अविभाज्य या तदाकारित है । इस स्तर पर द्रष्टा और दृश्य में, सर्जक तथा सर्जना में अभेद है । प्रजापति द्रष्टा है, वाक् सर्जना की शक्ति । वेद दोनों को अभिन्न कहता है । यह उचित ही है । अभेद की इस धारणा का प्रतान कतिपय पौराणिक आख्यानों में हुआ है । वहां प्रजापति या ब्रह्म तो ब्रह्मा बन कर विराजे और वाक् सरस्वती या गायत्री के रूप में प्रतिष्ठित हुई । वाक् या सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री भी कही गयी, पत्नी भी (कृष्णयजु., १२.५, २७.१) । ब्रह्मा का सरस्वती को जन्म देना और उससे समागम करना यह ग्लानिजनक आख्यान उपर्युक्त वैदिक अवधारणाओं का ही निरूपक है । वाक् अपने स्रष्टा से संसक्त भी है, क्योंकि वह उसके चैतन्य में समवेत है, और उसकी पुत्री भी है,

क्योंकि वह उस प्रजापति से जन्म लेती है। भर्तृहरि जब वाक् का विवेचन शब्दब्रह्म के रूप में करते हैं और अर्थरूप जगत् को उसका विवर्त्त बताते हैं और आम्नायवेत्ताओं के मत में उसे उसका परिणाम भी कहते हैं, तो वे वाक् की अपने स्रष्टा से संयुक्ति तथा पार्थक्य दोनों विकल्पों की इसी परंपरा के आधार पर व्यवस्था दे रहे हैं ।

५. वाक् में निहित अद्वितीय शक्ति का बोध वैदिक ऋषि प्रकट करते हैं, वे उसकी सर्वशक्तिमत्ता का प्रख्यापन भी करते हैं । वाक्-सूक्तों के कथनों में यह अवधारणा संकेतित है कि शब्द विश्व की सृष्टि करते हैं, उसे संस्कारित कर सकते हैं और उसे बदल भी सकते हैं । वाक् देवता कहती है -

यं कामये तमुग्रं कृणोमि,
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।

इसी परम्परा में अथर्ववेद वाक् को कामदुहिता धेनु कहता है (अथर्व.,९.२.५) । वाक् को पौराणिक प्रतीकभाषा में कामधेनु के रूप में पहचाने जाने की परंपरा का भी यहीं सूत्रपात होता है तथा इसी परम्परा में भट्टतौत और भवभूति कहते हैं-

वाग्धेनोर्दुग्धमेतं हि रसं यद् बालतृष्णया ।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः ।।

तथा -

कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्तिः सूते दुर्हृदोनिष्प्रलाति ।
शुद्धां शान्तां मातरं मङ्गलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः ।।

(उत्तररामचरित ५.३०)

अतएव इस परम्परा में वाक् मनुष्य के लिए सर्जना की शक्ति और अभिव्यक्ति की संवाहिका होने के साथ-साथ मुक्ति का साधन भी बनी । शब्द में मनुष्य की मुक्ति की संभावना और उस संभावना के एक जीवन-दर्शन का व्यवस्थापन तब यहां हो सका । वाक् की साधना 'मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः (वाक्यपदीय, १.१६) बनी, और शब्दसंस्कार परमात्मा की सिद्धि (वही, १.१२३,१३१) । व्याकरण को अपवर्ग का द्वार माना गया (वही, १.१४) । महाभाष्यकार ने कहा था कि 'सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो वेदराशिः ' (म.भा., भाग-१.पृ. ३६), तो म.भा.

दीपिका ने उसकी व्याख्या यह दी 'पुष्पितःफलितश्च, दृष्टादृष्टाभ्यामभ्युदयनिःश्रेयसाभ्याम्। (म.मा.,दीपिका, पृ. ९२.१.१४)।

६. सर्जना के साथ अवबोध की शक्ति भी वाक् है। कारयित्री और भावयित्री दोनों उसी के रूप हैं। अवबोध का संस्कार वाक् का ही एक रूप है और वह जिसके पास है, उसके आगे ही वाक् अपने आपको समग्रतया उन्मीलित् कर देती है, जिसके पास वह संस्कार नहीं, वह वाक् को सुनता हुआ भी नहीं सुनता, और देख कर भी नहीं देख पाता (ऋ., १०.७१.४)। चाम्स्की इस संस्कार को 'अन्तः प्रज्ञात्मक ज्ञान' के रूप में परिभाषित करते हैं (चाम्स्की, १९७५, पृ. ६.)। उनकी प्रजनक व्याकरण की अवधारणा मानवमन में अनिश्चित अनेकानेक वाक्यों को समझने की अन्तर्निहित योग्यता है, (वही, पृ. १३)।

७. वाक् का संहिताओं में उपस्थापित यह स्वरूप ही परवर्ती रीति या शैली के विचार का आधार बना। काव्य के दोष, गुण, और अलङ्कार की अवधारणाओं के बीज उसमें हैं, और कुन्तक, राजशेखर और भोज आदि आचार्यों को अपने प्रस्थान के सूत्र भी उसी में प्राप्त हुए हैं। ऋग्वेद में वाक् को द्योतमाना, त्विषीमती, चित्रा, नवस्वक्ति (मौलिक), स्वादुमत् (माधुर्ययुक्त)आदि विशेषणों सें मंडित किया गया है। इसमें रीतिविचार के अंतर्गत पठित माधुर्य, ओजस्, प्रसाद, समाधि, कान्ति, श्लेष, आदि गुणों का संग्रह हो जाता है (ऋ.,२.२१.६, १.१४३.७, १.१६४.१०, ५.६३.६, ८.७६.१२, १०.८८.३,८.८.११ आदि। (द्र. त्रिपाठी, १९८२,पृ. १४-२२.)

८. स्पष्ट ही ऋग्वैदिक वाक् में सृष्टि का सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम तक समाहित है। उसे 'भूरिस्थात्रा' तथा 'भूर्यावेशयन्ती' कहा गया है (ऋ., १०.७१.७)। मनुष्य के द्वारा उच्चरित शब्द, जो इस वाक् का ही एक स्थूल रूप है अपने साथ अर्थ को लेकर उपस्थित होता है। 'यस्तित्याज सचिविदं सखायं, न वाच्यपि भागो अस्ति, (ऋ., १०.७१.६) की व्याख्या में उद्गीथ कहते हैं-वाचः सखिभूतमर्थम्। इस प्रकार शब्दार्थसाहित्य के विषय में समस्त चिंतन के सूत्र ऋग्वैदिक वाग्विमर्श में अनुस्यूत हैं।

कुल मिलाकर वाक् के विमर्श में ऋग्वेद के ऋषियों ने शब्द को सृष्टि के केन्द्र में स्थापित किया, उसी में, जगत् का आरंभ, निर्माण

समुल्लास और मानव की मुक्ति भी देखी । वे ऋषि बार-बार कहते हैं कि हम अपने शब्दों या सूक्तों में इन्द्र को जन्म देते हैं, या अग्नि को बढ़ाते हैं (ऋ., ८.७९.१)। बृहदारण्यक उपनिषद् वाक् की सर्वव्यापिता और सर्वात्मकता को इस प्रकार परिभाषित करता है- 'यह समस्त पृथ्वी वाक् का शरीर है । जितना इस जगत् का विस्तार है, उतना वाक् का यहां जो कुछ भी जाना जाता है, सब वाक् का ही रूप है, वाक् ही जानने वाली ही है, और वह भी नाना पदार्थों में व्याप्त भी है' (बृह. उप., १.५.८.११)।

आधुनिक भाषाशास्त्रियों में हुम्बोल्त ने भाषा की 'सीमित साधनों के असीमित उपयोग' कर सकने की क्षमता पर बल दिया है। वस्तुतः ये भाषाशास्त्री भाषा में अंतर्निहित जिस सर्जनात्मक क्षमता का संकेत करते हैं, उसकी सहज स्वीकृति ऋग्वैदिक वाक् के रूप में है ।

सहायक ग्रन्थ

१. वाक्यविन्यास का सैद्धान्तिक पक्ष, नोम चाम्स्की, अनु. रमानाथ सहाय, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, १९७५,
२. आस्पेक्ट्स आफ थ्योरी आफ सिंटेक्स, वही, एम.आ.टी.प्रेस. १९६५
३. काव्यशास्त्र और काव्य, राधावल्लभ त्रिपाठी, मैकमिलन एण्ड कं., नयी ादल्ली, १९८२

2

प्रातिशाख्यों की पृष्ठभूमि एवं उनका स्वरूप

डॉ. राजेन्द्रमिश्र

भारतीय विद्वत्परम्परा यह विश्वास करती है कि सृष्टि के प्रारम्भ में समूची वेद-ज्ञानराशि अविभाजित थी। वेद, श्रुति आम्नाय, छन्दस्, निगम तथा स्वाध्याय संज्ञा से अभिहित ये ज्ञानग्रंथ प्रारंभ में समवायतः एक थे। द्वापरयुग के अन्त में महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने लोकोपकार की दृष्टि से एक ही ज्ञान-संहिता को ऋक् , यजुष तथा साम, मंत्रो की प्रकृति के आधार पर त्रिधा विभक्त किया। फलतः वेद को 'त्रयी' संज्ञा प्राप्त हुई। कालान्तर में महर्षि अंगिरा तथा अथर्वा ने भी अवशिष्ट वेदमंत्रों को संकलित किया जिसे अथर्वाङ्गिरस संहिता आथर्वण-संहिता अथवा अथर्ववेद कहा गया है।

तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर ने लिखा है - **पूर्वं भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थं एकीभूय स्थिता वेदा व्यस्ताः शाखाश्च परिच्छिन्नाः।**

यजुर्वेद के भाष्यकार महीधर का कहना है, "**तत्रादौ ब्रह्मपरम्परायां प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् चतुरो वेदान् पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमात् उपदिदेश।**"

निरुक्त के व्याख्याकार आचार्य दुर्ग ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा कि इस विभाजन का कारण था वेदों की दुरध्येयता तथा उनकी विशालता -

वेदं तावदेकं सन्तं अतिमहत्त्वात् दुरध्येयम् अनेक शाखाभेदेन समाम्नासिषुः सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः।

विष्णुपुराण में भी इसी आशय का उल्लेख मिलता है--**एको वेदश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु।**

वेदविभाजन का यह सन्दर्भ अत्यन्त विवादास्पद है। विवाद का एक बिन्दु तो यह है कि व्यास ने वेद का त्रिधा विभाजन किया अथवा

चतुर्धा। दूसरा महत्त्व पूर्ण बिन्दु यह है कि स्वामी दयानन्द कण्वसंहिता अथर्ववेद[१], शतपथ ब्राह्मण[२] तथा महाभारत[३] का प्रमाण देते हुए यह सिद्ध करते हैं कि वेद प्रारंभ से ही चतुर्धा विभक्त थे।

जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि वेद चतुर्धा विभक्त हैं। भगवान् व्यास ने अपने शिष्यों - पैल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमन्तु को क्रमशः ऋक, यजुष्, साम तथा अथर्व संहिता का उपदेश दिया। आगे चलकर, इन ऋषियों ने भी अपने शिष्यों प्रशिष्यों के माध्यम से वेदविद्या का प्रचार-प्रसार किया। यह कार्य शताब्दियों तक मौखिक परम्परा से ही चलता रहा, फलतः मंत्रो की आनुपूर्वी, उच्चारण तथा विनियोग आदि में नाना प्रकार के अन्तर आते गये।

वेदविद्या के इस प्रचार-प्रसार क्रम में आदि प्रवचनकार ऋषि को 'चरण' कहा गया[४]। आगे उसी क्रम में जिन ऋषियों ने मत-मतान्तर स्थापित किये उन्हें शाखाप्रवर्तक कहा गया। शाखा को ही 'पार्षद' भी कहा गया है। शाखा अथवा पार्षद का भी विभाजन 'अनुशाखाओं' में हुआ। प्रचार-प्रसार की इस सुदीर्घ परम्परा में जो साक्षात्कृतधर्मा अथवा मंत्रद्रष्टा ऋषि हुए उन्हें 'प्रवर' कहा गया। विकास की यह परम्परा अत्यन्त वैज्ञानिक सिद्ध हुई। कोई भी वेदज्ञ ब्राह्मण अपना सांगोपांग परिचय इसी क्रम में देता था कि उसका चरण क्या है, प्रवर क्या है, और वेद की शाखा क्या है। १२ वीं शती में प्राप्त राजा भोजवर्मा का एक ताम्र पत्र इस परिचय-परम्परा को प्रमाणित करता है- **जमदग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकण्वशाखाध्यायिने ...।**

महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा महाभाष्य में प्रस्तुत वेद-शाखाओं का विवरण जितना रोचक है, उतना ही विस्मयावह भी। वह लिखते हैं--एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् एकशतम् अध्वर्यु शाखा.....सहस्रवर्त्मा सामवेद.....नवधाऽथर्वणो वेदः।

इस परिगणना के अनुसार ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखायें प्रचलित थीं। इसका अर्थ यह हुआ कि विभिन्न ऋषियों के पाठभेदों तथा अन्य मतवैषम्यों के आधार पर पनपी चारों वेदों की ११३१ शाखायें कभी भारत में प्रचलित थीं। इन समस्त शाखाओं के अपने-अपने पृथक् ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थ भी रहे होंगे। आज स्थिति यह है कि

किसी शाखा का मात्र ब्राह्मण भाग मिलता है। तो किसी की उपनिषद्। किसी का आरण्यकमात्र मिलता है तो किसी का संहिता।

सम्प्रति ऋग्वेद की एकमात्र शाकल शाखा; यजुर्वेद की काण्व, माध्यन्दिन (शुक्ल), तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ एवं कपिष्ठल; (कृष्ण) सामवेद की कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय, अथर्ववेद की शौनक एवं पैप्पलाद अर्थात् चारों वेदों की मात्र १२ शाखाएं उपलब्ध हैं।[५]

इन वेदशाखाओं के पार्थक्य का मूल आधार क्या था, यह जानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उन्हीं पार्थक्यबिदुओं को समझने तथा समझाने के लिये, आगे चलकर प्रातिशाख्यों की रचना हुई। प्रातिशाख्य शब्द ही बताता है, कि उसका सम्बन्ध वेद की प्रत्येक शाखा से था। आचार्य माधव ने निर्वचन की दृष्टि से लिखा है- **प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्।**

१. एक ही संहिता का अनेक शाखाओं तथा अनुशाखाओं में विभक्त होने का प्रथम कारण था शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा स्वारस्य के अनुसार पाठान्तर स्वीकार कर लेना। वायुपुराण के ७१ वें अध्याय में इस प्रवृत्ति का खुलासा किया गया है -

> सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः ॥
> पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा ॥ ५९ ॥
> प्राजापत्या श्रुतिर्नित्यास्तद् विकल्पास्त्विमे स्मृताः ॥
> अनित्यभावाद् देवानां मन्त्रोत्पत्तिः पुनः पुनः ॥ ७५ ॥

ऋग्वेद १०.७१.६, काण्वसंहिता १.३ तथा तैत्तिरीय आरण्यक १.३.१. में एक ही पाठ को भिन्न रूपों में ग्रहण किया गया है, जैसे-स चिविदं सखायम्। सखिविदं सखायम्। भ्रातृव्यस्य वधाय। द्विषतो वधाय।

२. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य शाखाविभाजन का मूल कारण मंत्रोच्चारणभेद मानता है। एक ही मंत्रांश को विभिन्न शाखाओं में पृथक् रूप से उच्चारित किया जाता है। उदाहरणार्थ -

> सरट्ढ वा अश्वस्य।
> सरट्ह वा अश्वस्य।
> सरट्ढ्ह वा अश्वस्य।

३. महाभाष्यकार वेदव्याख्यान को ही शाखा-विभाजन का हेतु मानते हैं-**नहि च्छन्दांसि क्रियन्ते । नित्यानि छन्दांसि इति । यद्यपि अर्थोनित्यः । या त्वासौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या । तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं, कालापकं, मौदकं पैपलादकम् इति ।**

अष्टाध्यायी के सूत्र **'तेन प्रोक्तम्'** (१.३.१०१) की व्याख्या में पञ्जिकाकार जिनेन्द्रबुद्धि भी वेद एवं उसकी शाखाओं का ही उदाहरण देते हैं - **तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते** आदि ।

जिनेन्द्र बुद्धि भी वेदविद्या के व्याख्यान को ही शाखाकरण का आधार मानते हैं ।

४. मंत्रगत रूढियां भी शाखाभेद का कारण बनीं । ऋग्वेद में अनेक ऐसी ऋचाएं हैं जो अध्ययन काल में तो चतुष्पदा होती हैं, परन्तु प्रयोगकाल में द्विपदा बन जाती हैं । आचार्य सायण एवं महीधर ने भी सर्वानुक्रमणी के इस मन्तव्य को स्वीकार करते हुए इन्हें नैमित्तिक द्विपदा की संज्ञा दी है तथा इनकी संख्या १४० स्वीकार की है । इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में १७ नित्य द्विपदा ऋचाएं भी हैं और उन्हें उस स्वरूप से कथमपि वंचित नहीं किया जा सकता है ।

शाकल शाखा के बालखिल्य सूक्त तथा कुन्ताप सूक्त भी एक प्रकार की रूढ़ि ही हैं, क्योंकि शाखाभेद से इनका कोई प्रत्यक्ष सन्बन्ध नहीं सिद्ध होता ।

महाभाष्यकार लिखते हैं - **ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते** (महा., ४.३.१०१) । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भारतवर्ष में कोई ऐसा भी समय था जबकि कठ एवं कालापक शाखायें गांव-गांव में पढ़ाई जाती थीं, वह समय महर्षि पतञ्जलि का जीवन काल (ई.पू. द्वितीय शती) भले न रहा हो, परन्तु उनसे पूर्व अवश्य ही था ।

जब चारों वेदों की ११३१ शाखाओं का कमोवेश अध्ययन-अध्यापन सम्पूर्ण भारत में प्रचलित रहा होगा तब इन शाखाओं के पार्थक्य से उभरे मत-मतान्तर भी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, आत्मगौरव, वाकोवाक्य शास्त्रार्थ के कारण बनते रहे होंगे । प्रत्येक शाखाकार अपनी ही मंत्रानुपूर्वी , अपने ही उच्चारण, अपने ही पाठ तथा अपनी ही रूढ़ि को युक्ति-युक्त मानता रहा होगा । वेद का अध्ययन, अध्यापन

जटिल और विषमकार्य बन गया होगा । सचमुच ऐसी ही स्थिति रही होगी ।

फलतः जैसे कलियुगीन मानवों की ह्रासोन्मुख बुद्धि तथा वेदमंत्रों के दुरध्येत्व का आकलन कर भगवान् व्यास ने वेदों का चतुर्धा विभाजन किया था, अब उसी प्रकार वेदाध्ययन को सरल, सुगम तथा सुकार बनाने के उद्देश्य वेदाङ्गों की संरचना हुई । वेदाङ्गों का मूल उद्देश्य ही था विभिन्न वेदशाखाओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूढ़ियों तथा ग्रन्थियों का व्याख्यान । प्रत्येक वेदाङ्ग का विषय क्षेत्र अलग था ।

चूंकि इनके अध्ययन से वेद के रहस्यों को सरलता से समझा जा सकता था इसीलिए इन्हें (वेद का) अंङ्ग कहा गया–येनाङ्गयते गम्यते-वेदः स वेदाङ्गः ।

मंत्रद्रष्टा ऋषि तो 'अभ्यानर्षण' के कारण धर्म का साक्षात्कार कर चुके थे । फलतः स्वयंप्रकाश उन ऋषियों ने प्रवचन द्वारा 'असाक्षात्कृतधर्मा' अर्थात् सामान्य मानवों को भी प्रबुद्ध बनाया ।[६] परन्तु आगे चलकर मनुष्य इतने मन्दबुद्धि पैदा होने लगे कि वे मंत्रोपदेश मात्र से ज्ञान ग्रहण कर सकने में असमर्थ थे । फलतः वेदों के रहस्यों को फोड़ कर अर्थात् सुगम बनाकर उन मन्द बुद्धि जनों को समझाने के लिए वेदाङ्गों की रचना हुई ।[७]

वेदाङ्गों की परम्परा का उदय ब्राह्मण-काल में ही हुआ, परन्तु उनके स्वरूप एवं संख्या का निश्चय इस युग के अन्तिम चरण में हुआ । बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् मुण्डकोपनिषद् तथा षड्विंश ब्राह्मण में किसी न किसी रूप में वेदाङ्ग की अविकसित, अपरिनिष्ठित अवधारणा मिलती है । बृहदारण्यक उपनिषद् में इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र , अनुव्याख्या तथा व्याख्यादि को ब्राह्मण का अंग बताया है; तो छान्दोग्य में इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या तथा सर्पविद्या आदि को ।[८]

छह वेदाङ्गों का नाम्ना उल्लेख सर्वप्रथम मुण्डकोपनिषद् में प्राप्त होता है । षड्विंश ब्राह्मण में भी वेद के साथ वेदाङ्गों की संख्या तो चर्चित हैं परन्तु नाम नहीं ।[९] नाम और संख्या – दोनों का एक साथ

उल्लेख मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है – **शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषम्।** – मुण्डक., २.२.५.।

कालान्तर में इन्हीं छः वेदाङ्गों को अन्तिम रूप से स्वीकृति दी गई तथा इनका तलस्पर्शी विषय-विवेचन भी किया गया। प्रस्तुत आलेख में शिक्षा के ही सन्दर्भ में अपेक्षित सूचनाओं को एकत्र करना अभीष्ट है, क्योंकि प्रातिशाख्यों में शिक्षा का ही प्रतिपादन एवं अन्वाख्यान किया गया है।

मुण्डकोपनिषद् की सूची में शिक्षा को प्रथम वेदाङ्ग माना गया है, जिससे उसका महत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। पाणिनीयशिक्षा में भी उसे वेद की नासिका, कहा गया है।[१०] तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा के प्रतिपाद्य को संकलित करते हुए कहा गया है– 'शिक्षां व्याख्यास्यामः वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्त शिक्षाऽध्यायः।'

वर्ण का अर्थ है वैदिक वर्णमाला। स्वर का अर्थ उदात्त, अनुदात्त स्वरित प्रचय आदि स्वर। मात्रा, दीर्घ एवं प्लुत को कहते हैं। बल का तात्पर्य है वर्णों का उच्चारण स्थान (Point of articulation), तथा उनका बाह्य, आभ्यन्तर प्रयत्न (Process of articulation), साम का अर्थ है निर्दोष एवं पूर्वापर वर्णसामञ्जस्य से युक्त मधुर उच्चारण तथा सन्तान का अर्थ है मंत्रापाठ की प्रक्रिया में पदादि एवं पदान्त वर्णों की संहिता।

'मंत्र का अशुद्ध उच्चारण वज्रपात बनकर यजमान को ही विनष्ट कर सकता है' याज्ञिकों का यह दृढ़ विश्वास था।[११] महाभाष्यकार ने इस विश्वास को वृत्रासुर के उपाख्यान द्वारा स्पष्ट किया है। देवराज इन्द्र द्वारा अपने पुत्र विश्वरूप की हत्या कर देने के बाद कुपित त्वष्टा ने इन्द्रविनाशक पुत्र की उत्पत्ति के लिये आभिचारिक यज्ञ किया– **'इन्द्रशत्रोःविवर्धस्व'** आवाहन के साथ। परन्तु याज्ञिकों ने इन्द्रशत्रु शब्द का अन्तोदात्त उच्चारण न कर आद्युदात्त उच्चारण किया। अन्तोदात्त उच्चारण की स्थिति में यह शब्द षष्ठी तत्पुरुष बनता और इन्द्र के शत्रु (वृत्र) की वृद्धि होती। परन्तु आद्युदात्त उच्चारण से इसका अर्थ बहुब्रीहि परक हो गया तथा मंत्रबल से ऊर्जित 'इन्द्र' ने ही वृत्र का नाश कर डाला।

तैत्तिरीय उपनिषद् में व्याख्यात शिक्षा का प्रतिपाद्य यद्यपि सूत्र रूप में कहा गया है तथापि उससे शिक्षा का स्वरूप एवं क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः आज की भाषावैज्ञानिक पदावली की दृष्टि से हम शिक्षा को प्राचीनतम ध्वनिविज्ञान कह सकते हैं, जिसमें वर्णों, स्वरों, निघातों, मात्राओं तथा समूची ध्वन्युच्चारण-प्रक्रिया का अनुभव संवेद्य (गतानुगतिक नहीं) वर्णन हुआ है। महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा प्रोक्त व्याकरण के उद्देश्यों में भी अनेक बिन्दु ऐसे हैं जो शिक्षा की परिधि में आते हैं।[१२] सच तो यह है कि शिक्षा, निरुक्त तथा व्याकरण अन्योन्याश्रित विद्याएं हैं।

शिक्षा वेदाङ्ग का मूल उद्देश्य था-वेद की विविध शाखाओं की ध्वनिवैज्ञानिक व्याख्या करना। वैदिकी शिक्षा वस्तुतः अध्येतृ-परम्परा तथा आचार्य-सम्प्रदाय पर आश्रित थी। आचार्य-कुमारिल भट्ट ने बड़ी स्पष्टता से यह बात स्वीकार की है।

वेदरक्षाऽपि नैतस्मादृतेऽध्येतृपरम्पराम्।
सम्प्रदायोऽनुवृत्तश्चेद् वेदस्तेनैव रक्ष्यते ॥
प्रातिशाख्यविरोधे च बाध्यते व्याक्रिया वरम्।

व्याकरण एक समस्या का एक निश्चित समाधान देता है। निरुक्त अनेक समाधानों की सम्भावनाएं प्रस्तुत करता है। परन्तु शिक्षा अथवा उसके प्रतिपादक प्रातिशाख्य शाखागत विकल्पों की स्वतन्त्र एवं पृथक् व्याख्या करते हैं। आचार्य नागेश भट्ट प्रातिशाख्य की इस विलक्षण प्रकृति को रेखाङ्कित करते हुए कहते हैं-न च पदार्थ लक्षणं ख्यापक म् ..न च प्रातिशाख्यादितस्तन्निवृत्तिः तेषामनन्तासु शाखासु क्वचित्क्वचिदुत्सादर्शनात्। न च तद् विरोधस्यात्यन्तबाधः। शाखान्तरपरतयाऽत्यन्तबाधक त्वस्याक ल्पनात्। (महा. पस्पशा.)।

आचार्य नागेशभट्ट द्वारा स्वीकृत प्रातिशाख्यों की अनन्तता का कारण है वेदशाखाओं की अनन्तता, जिसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

वेद की प्रत्येक शाखा का पाठभेद, उच्चारण विनियोगविषयक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करने के ही कारण शिक्षाग्रन्थों को प्रातिशाख्य कहा गया। शाखागत पार्थक्यभेदों के भी कुछ उदाहरण प्रारंभ में बताए जा चुके हैं। प्रातिशाख्य युक्ति परक व्याख्याग्रन्थ हैं, फलतः

तत्त्वमीमांसा करते समय उनकी दृष्टि, मात्र रहस्योद्भेद पर केन्द्रित रहती है, न कि किसी गूढ़ धर्मोपदेशना पर। शतपथ ब्राह्मण में भी कूट- उपाख्यानों का विशाल जमघट दीखता है। परन्तु वहां उन उपाख्यानों द्वारा किसी गूढ़ यज्ञीय रहस्य अथवा कर्मकाण्डीय ग्रंथि को सुलझाने का यत्न किया गया है। कहीं-कहीं उनका उद्देश्य आध्यात्मिक चिन्तन पर भी केन्द्रित दींखता है।

वैदिक अध्ययन-अध्यापन की परम्परा चिरकाल तक मौखिक एवं आनुवंशिक ही रही। फलतः उत्तरोत्तर पनपते भेदप्रभेदों, मतवैषम्यों एवं स्वारस्यों के कारण 'शाखापाठ' का महत्व एवं उसकी शुद्धता-पवित्रता सर्वोपरि हो गई।

स्वशाखाश्रयमुत्सृज्य परशाखाश्रयं तु यः।
कर्तुमिच्छति दुर्मेधा मोघं तत्तस्य जीवितम्॥

शाखा के प्रति यह अकृत्रिम आस्था ही सिद्ध करती है कि वेद की प्रत्येक शाखा स्वयं में एक विशाल सम्प्रदाय होती थी जिसमें उसके व्यक्तिगत वैशिष्ट्य, प्रचलित उच्चारण-सम्बन्धी नियम, स्वीकृत मंत्रपाठ की आनुपूर्वी, भाषागत प्रयोग स्वातंत्र्य, परम्पराएं रूढ़ियां एवं अन्यान्य नियमबद्धताएं सुरक्षित थीं। और यही सारी शाखा-सुरक्षित-सामग्री प्रातिशाख्यों का प्रतिपाद्य बनी।

निरुक्त कार यास्क प्रातिशाख्य को 'पार्षद' भी कहते हैं - पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। (निरुक्त, १.१५.) किं पार्षदानि। स्वचरणापर्षद्येव यैः प्रतिशाखं नियतमेव पदावग्रहणप्रगृह्यक्रमसंहिता स्वरलक्षणंमुच्यते, तानीमानि पार्षदानि प्रातिशाख्यानि। - आचार्य दुर्ग, निरुक्त, १.१७।

जैसा कि नामकरण से ही स्पष्ट हो जाता है, प्रातिशाख्य वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध रहे होंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि वेद की समस्त शाखायें ११३१ थीं तो प्रातिशाख्य भी इतने ही रहे होंगे।

परन्तु इस विषय में दो प्रकार की धारणाएं प्रचलित रही हैं। एक तो यह कि प्रातिशाख्यों की संख्या वेदों की शाखाओं की संख्या के ही बराबर थी। दूसरी यह कि प्रातिशाख्य अनेक वेदशाखाओं की सामूहिक ध्वनि - वैज्ञानिक व्याख्या करते थे। गार्ग्य, गोपाल, यज्वा

ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के स्वोपज्ञ वैदिकाभरण भाष्य में कहा है कि दो-तीन वेदशाखाओं का सामूहिक प्रतिशाख्य भी होता है । जैसे ऋग्वेद की शाकल एवं बाष्कल शाखाओं का प्रातिशाख्य एक ही है-

द्वित्रिशाखाविषयत्वेऽपि तदसाधरणतयोपपत्तेः । तथा बह्वृचां शाकलबाष्कलात्मक शाखाद्वयविषयं प्रसिद्धम् । (तै.प्रा., वैदिकाभरणभाष्य, ४.११.)।

जैसे वेदों की ११३१ शाखाओं में से आज मात्र बारह शाखाएं प्राप्त होती हैं ठीक उसी प्रकार आज प्रातिशाख्य भी मात्र नौ ही उपलब्ध हैं - शौनकप्रणीत ऋक्प्रातिशाख्य, कात्यायनप्रणीत वाजसनेयिप्राति. (शुक्ल यजुर्वेद), कार्तिकेय प्रणीत तैत्तिरीय प्राति. (कृष्ण यजुर्वेद), औदव्रजि-प्रणीत ऋक्तंत्र, सामतंत्र एवं अक्षरतंत्र तथा पुष्पाचार्य प्रणीत पुष्पसूत्र प्रातिशाख्य (सामवेद) चतुरध्यायिका एवं अथर्ववेद प्रातिशाख्य (अथर्ववेद) ।

उपर्युक्त प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त आश्वलायन प्राति.,[१३] बाष्कल प्राति.,[१४] शांखायन प्राति,[१५] चारायणीय प्राति.,[१६] मैत्रायणी प्राति.,[१७] सात्यामुग्रि राणायनीय प्राति.,[१८], राणायनीय ऋक्तंत्र[१९] तथा गौतमी प्रातिशाख्य[२०] का भी उल्लेख विभिन्न परवर्ती ग्रंथों में उपलब्ध होता है । संभव है कि अन्यान्य प्रातिशाख्यों के सन्दर्भ में भी जानकारी भविष्य में मिले क्योंकि हस्तलिखित ग्रन्थों का विशाल समूह अभी भी अनदेखा पड़ा है ।

उपलब्ध प्रातिशाख्यों में शौनक-प्रणीत ऋक् प्रातिशाख्य सम्भवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं विशाल है । इस प्रातिशाख्य में कुल तीन अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय छः-छः पटलों में विभक्त है । इस प्रकार सम्पूर्ण ऋक् प्राति. में १८ पटल हैं । यदि वर्ण्य अथवा विवेच्यसामग्री की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि ऋक्प्राति. समूचे प्रातिशाख्य-वाङ्मय के विस्तृत प्रातिपाद्य का प्रतिनिधित्व करता है । इस प्रातिशाख्य में प्रतिपाद्यभूत संज्ञाएं-सन्धिगत स्वरवर्णलोप, आगम, विकारादि, उदात्तानुदात्तादि स्वरविवेचन तथा उनका बलाबलविचार, नतिभाव (दन्त्य स का मूर्द्धन्य ष में परिवर्तन) वर्णद्वित्व, स्वरभक्ति, , ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत विवेचन तथा

सामवशा सन्धि आदि का सारग्राही विवेचन किया गया है। अन्यान्य वेदों से सम्बद्ध प्रातिशाख्यों में भी अनेक विषय ऐसे हैं जो ऋक् प्राति. में भी आये हैं।

यद्यपि परवर्ती युग में छः वेदाङ्गों में व्याकरण, छन्द एवं ज्यौतिष का ही अप्रतिहत गति से प्रचार-प्रसार होता रहा, तथापि व्याकरण शास्त्र के विकास में प्रातिशाख्यों का योगदान अविस्मरणीय है।

संदर्भ

१. यास्मिन्नहिता वेदा विश्वरूपाः (अथर्व.), वेदाश्च साङ्गाश्चत्वारः (सायण)।
२. शतपथ ब्राह्मण, काण्ड ११।
३. वेदैश्चतुर्भिः सुप्रीताः (द्रोणपर्व)
४. सविस्तर द्रष्टव्यः निरुक्त, १.१७,; महाभाष्य; ४.२.१०४ पाणिनीयाष्टक, २.४.३ तथा प्रतिज्ञापरिशिष्ट। मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर भट्ट ने लिखा है-चरणशब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसङ्घवाची।
५. महाभाष्य के अतिरिक्त आपस्तम्बधर्मसूत्र, दिव्यावदान, प्रपञ्चहृदय, आथर्वणपरिशिष्ट, चरणव्यूह तथा बोधायन गृह्यसूत्र में भी संख्याभेद के साथ वेदशाखाओं का विविचेन किया गया है।
६. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान् समप्रादुः। निरुक्त, १.२०।
७. उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं समाम्नासिषुः वेदञ्च वेदाङ्गानि च। (निरुक्त, १.२०); बिल्मं भिल्मं वेदानां भेदनम्। भेदो व्यास इत्यर्थः। भासनमिति वा। (म.म.पं. छज्जूराम शास्त्री)।
८. सविस्तर द्रष्टव्य : बृहदारण्यकोप., ४.४.१० तथा छान्दोग्योप., ७.१.२।
९. चत्वारोऽस्यै वेदाः शरीरं षडङ्गान्यङ्गानि।
१०. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।। (पा. शि., ४१,४२.)

११. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।।
पाणिनीय शिक्षा, ५२.

१२. रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम् । रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यतीति । (महाभाष्य पस्पशा.)

१३. अनन्त भट्ट विरचित वाजसनेयि प्राति. टीका में उल्लेख - नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यसिद्धत्वम् ।

१४. शांखायन श्रौतसूत्र (१२.१३.५.) के वरदपुत्र आनर्तीय भाष्य में संकेत-उपद्रुतो नाम सन्धिर्बाष्कलादीनां प्रसिद्धः । तस्योदाहरणम् ।

१५. अलवर के राजकीय ग्रंथागार में ग्रंथाङ्क १७ के रूप में उल्लेख 'शांखायनशाखायां प्रातिशाख्यं समाप्तम् ।'

१६. काठक गृह्यसूत्र, (५.१.१.) भाष्य में देवपाल-'तथा च चारायणीयसूत्रम् , ।

१७. श्रीधर वारे (पं. सातवलेकर -सम्पादित मैत्रा. संहिता की भूमिका में) ।

१८. भट्टोजि दीक्षित प्रणीत शब्दार्थकौस्तुभ, (१.१.३) ।

१९. गोभिल गृह्य., (२.८.४) व्याख्या में भट्ट नारायण-राणायनीयानां प्रोक्तो प्रसिद्धा विसर्जनीयाभिनिष्ठनाख्यायेति ।

२०. सामवेद की गौतमी शिक्षा में उल्लेख-अथ सप्ताक्षरमेकमुदाहृतं प्रातिशाख्ये ।

इन समस्त उल्लिखित प्रातिशाख्यों की जानकारी के लिये सविस्तर द्रष्टव्य डॉ. व्रजविहारी चौबे की प्रस्तावना, ऋक् प्राति. छात्रसंस्करण, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी ।

3

औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान तथा पाणिनीय शिक्षा

डॉ. केदारनारायण जोशी

"ध्वन् " धातु में 'इ ' प्रत्यय के योग से निष्पन्न "ध्वनि " शब्द का प्रयोग संस्कृत के आचार्यों ने अनेक अर्थों में किया है । महर्षि पतञ्जलि के अनुसार "अर्थबोधक ध्वनि" ही लोक में शब्द कहा जाता है ।[१] साहित्यशास्त्र में ध्वनि , अनुस्वान् या अनुरणन के अर्थ में प्रयुक्त है । वैयाकरणों के शब्दज शब्द स्फोट[२] से प्रेरणा ग्रहणकर ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यंग्यार्थ प्रधान काव्यविशेष को "ध्वनि" की संज्ञा प्रदान की है ।[३] अभिनवगुप्तपादाचार्य के अनुसार वाचक पद, वाच्य अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यंजना व्यापार और व्यंग्यप्रधान काव्य पांचों ध्वनि हैं । सामान्यतया किसी भी वस्तु से किसी भी प्रकार का कुछ ऐसा हो, जो सुना जा सके, उसे "ध्वनि" कहते हैं । वैज्ञानिक दृष्टि से वायुमण्डलीय दबाव में परिवर्तन या उतार-चढ़ाव का नाम ध्वनि है । इस प्रकार ध्वनि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, किन्तु भाषा के संन्दर्भ में अथवा भाषा-विज्ञान में जिस ध्वनि पर विचार किया जाता है, वह इनती व्यापक नहीं है । व्यापक अर्थ में प्रयुक्त ध्वनि से भाषा के प्रसंग में प्रयुक्त ध्वनि को पृथक् करने के लिए भाषा वैज्ञानिकों ने इसे "भाषाध्वनि" अथवा 'वाक्स्वन' की संज्ञा से अभिहित किया है । तदनुसार "भाषाध्वनि" भाषा में प्रयुक्त ध्वनि की वह लघुतम इकाई है, जिसका उच्चारण और श्रोतव्यता की दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तित्व हो ।[४] संक्षेप में भाषा में प्रयुक्त ध्वनि ही भाषाध्वनि है ।

ध्वनि अथवा स्वन के अध्ययन से संबद्ध शास्त्र अथवा विज्ञान को हिंदी में ध्वनिविज्ञान या ध्वनिशास्त्र अथवा स्वनविज्ञान तथा स्वनिमविज्ञान आदि नामों से तथा अंग्रेजी में फोनेटिक्स और फोनोलोजी नाम से अभिहित किया जाता है । इन दोनों का सम्बन्ध ग्रीक शब्द फोन से है, जिसका अर्थ "ध्वनि" है । "टिक्स " और

"लोजी " प्रयोगतः विज्ञान के समानार्थी हैं । इस प्रकार ये दोनों ही ध्वनि के विज्ञान हैं । आजकल "फोनेटिक्स" का प्रयोग ध्वनि के भाषानिरपेक्ष अध्ययन के लिए तथा "फोनोलोजी" का प्रयोग भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्यवस्था के लिये किया जाता है, परन्तु इन दोनों पारिभाषिक शब्दों का प्रकृत प्रयोग भी सार्वभौम नहीं है ।

संस्कृत में ध्वनिविज्ञान का प्राचीन नाम "शिक्षाशास्त्र" है । यह छः वेदांगों में तथा वेदों का "घ्राण" है । यह शुद्ध उच्चारण का शास्त्र है । यह शास्त्र स्वर और व्यञ्जनों का शुद्ध उच्चारण तथा शब्दों के अर्थ का ठीक-ठीक बोध कराता है । यद्यपि यह शास्त्र बहुत पुराना है, तथापि इस पर लिखित ग्रन्थ अल्पमात्रा में ही उपलब्ध हैं । एक अनुश्रुति के अनुसार जैगीषव्य के शिष्य बाभ्रव्य इस शब्द के प्रवर्तक थे । ऋग्वेद के क्रमपाठ की व्यवस्था भी इन्होंने ही की थी । महाभारत के अनुसार आचार्य मालव ने एक शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी ।[५] इनका उल्लेख अष्टाध्यायी में भी मिलता है । डॉ. राजबली पाण्डेय के अनुसार पाञ्चाल बाभ्रव्य का ही दूसरा नाम गालव था ।[६] भारद्वाज ऋषि प्रणीत "भारद्वाजशिक्षा" नामक ग्रन्थ भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूना से प्रकाशित हुआ था ।

"चारायणीशिक्षा" नामक ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति डॉ. कीलहार्न को कश्मीर में प्राप्त हुई थी । राजशेखर कृत काव्यमीमांसा में पाणिनि पूर्ववर्ती शब्दवित् आचार्य आपिशलि का उल्लेख है । पाणिनि के समय तक शिक्षाशास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था । "पाणिनीय-शिक्षा" इस विषय का प्रथम सुव्यवस्थित ग्रन्थ है । "शिक्षासंग्रह" नामक वाराणसी से प्रकाशित एक ग्रन्थ में गौतमशिक्षा, नारदीयशिक्षा, माण्डुकीयशिक्षा तथा भारद्वाजशिक्षा संगृहीत हैं । मूलतः वेदों के पृथक्-प्रपृथक् शिक्षाग्रन्थ थे, किन्तु आज यजुर्वेद का याज्ञवल्क्यशिक्षा, सामवेद की नारदशिक्षा, अथर्ववेद की माण्डुकीयशिक्षा ही उपलब्ध है । ऋग्वेद का कोई स्वतन्त्र शिक्षाग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, उसके उच्चारण के लिए " पाणिनीय-शिक्षा" का ही उपयोग किया जाता है ।

ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की शुद्धता तथा उच्चारण की कालावधि का परिसीमन शिक्षाशास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य है । इसके

वर्ण्यविषयों में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संतान इन छह की गणना होती है । "अ" ले लेकर "ह" तक समस्त स्वर-व्यंजन वर्णों के विविध उच्चारणस्थान सुनिश्चित हैं, जो क्रमशः कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ हैं । शिक्षा ग्रन्थों में स्वरों के तीन भेद हैं - उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । मात्राएं तीन हैं - ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत । बल प्रयत्न को कहते हैं, जिसके दो प्रकार है - अल्पप्राण और महाप्राण । श्रुतिमधुर पाठ को साम तथा संधि को संतान कहते हैं । शिक्षा के इन छह विषयों के ज्ञान से ही भाषा का शुद्ध उच्चारण और अर्थबोध संभव है ।

भाषा का आरम्भ ध्वनि से होता है । ध्वनि के अभाव में भाषा की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । यही कारण है कि भाषाविज्ञान का विषय ध्वन्यात्मक भाषा ही है । बोलते तो सभी हैं, पर कैसे बोलते हैं, ध्वनि कहां से और कैसे उत्पन्न होती है ? यह शरीरविज्ञान से परिचित व्यक्ति ही समझ सकता है, और वह भी तब तक इसे नहीं बता सकता जब तक कि उसने ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से इस पर विचार न किया हो, क्योंकि शरीर विज्ञानी और भाषावैज्ञानिक की दृष्टि भिन्न होती है ।

ध्वनि की उत्पत्ति और विविध रूपों से उसकी अभिव्यक्ति के वैज्ञानिक रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आज के भाषावैज्ञानिकों को भी शिक्षाग्रन्थों की ही शरण में जाना पड़ता है । वर्णों की उत्पत्ति तथा वर्णों के विभाग का वैज्ञानिक निरूपण सर्वप्रथम भगवान् पाणिनि ने ही किया है । तदनुसार "अन्तःकरण स्वगत पदार्थों को अपनी वृत्ति से एक बुद्धि विषय बनाकर उन्हें जानने की इच्छा से मन को नियुक्त करता है, वही मन कायाग्नि को आघात करता है, वही कायाग्नि प्राणवायु को प्रेरित करता है । कायाग्नि से प्रेरित प्राणवायु हृदय में भ्रमण करता हुआ मन्द्र स्वर को उत्पन्न करता है, जो कि प्रातः सवनकर्म के साधनरूपी मन्त्रों के अनुरूप तथा गायत्री नामक छन्द से युक्त है ।[७] वही, प्राणवायु कण्ठदेश में भ्रमण करता हुआ त्रैष्टुप् छन्दोयुक्त माध्यन्दिन सवनकर्मसाधन मन्त्रोपयोगी मध्यम स्वर को तथा शिरोदेश में भ्रमण करता हुआ जगतीच्छन्दोयुक्त सायंसवनकर्म साधन-मन्त्रोपयोगी तारस्वर को उत्पन्न करता है ।[८] प्राणवायु ऊर्ध्व-प्रेरित हो,

मूर्धा में आघातित होकर तथा वक्त्रादि स्थान को प्राप्त कर वर्णों को उत्पन्न करता है,[९] जिनके पांच विभाग हैं - स्वर, काल, स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न तथा बाह्य प्रयत्न ।

ध्वनियों में वर्गीकरण के तीन प्रमुख आधार हैं - स्थान, करण और प्रयत्न । निःश्वास वायु को जहां बाधित या अवरुद्ध करते हैं, उसे स्थान कहते हैं । ओष्ठ से लेकर कण्ठच्छद तक अनेक स्थान हैं । काकल, कण्ठ, तालु, मूर्धा, वर्त्स, दन्त तथा ओष्ठ उच्चारण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रयत्न मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं--आभ्यन्तर और बाह्य । इनका सम्बन्ध मुखविवर के भीतरी तथा भाहरी भाग में हैं । मुखविवर के भीतर अर्थात् ओष्ठ से कण्ठ तक जो प्रयत्न किये जाते हैं, वे आभ्यन्तर कहलाते हैं तथा कण्ठ के बाद अर्थात् नीचे जो प्रयत्न होते हैं, वे बाह्य कहलाते हैं । आभ्यन्तर प्रयत्न चार माने गये है - स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत । स्पर्श वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वा कण्ठ से लेकर ओष्ठ तक अनेक स्थानों का स्पर्श करती है, अतः स्पर्श वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट माना गया है । य, व आदि कुछ ध्वनियां ऐसी है, जिसमें स्थान और करण का पूरा स्पर्श नही होता, वरन् थोड़ा-सा स्पर्श होता है । उन्हें ही ईषत्स्पृष्ट कहते हैं । प्राचीन पारिभाषिक शब्दावली में इन ध्वनियों को अन्तःस्थ तथा आजकल अर्धस्वर कहते हैं । विवृत प्रयत्न की आवश्यकता स्वरों के उच्चारण में होती है । इसमें मुखविवर पूर्णतः खुला रहता है । संवृत, विवृत का उलटा है । संवृत प्रयत्न का व्यावहारिक उपयोग नगण्य है । मुखविवर यदि पूर्णतः संवृत होगा तो उस स्थिति में ध्वनियों का उच्चारण सुना नहीं जा सकेगा ।

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार है - विवर, संवर, श्वास, नाद, अघोष, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । बाह्य प्रयत्न मुख्य रूप से स्वरतन्त्री में होते हैं । "संवर" प्रयत्न में स्वरतन्त्रियां बंद रहती है । "श्वास" में स्वरतन्त्रियों की खुली स्थिति और बन्द दोनों प्रकार की होती है । "नाद" में स्वरतन्त्रियों में कम्पन होता है । प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय वर्ण अघोष तथा तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ण घोष हैं । जिसे श्वास कहते हैं, वही अघोष है तथा नाद का ही दूसरा नाम घोष है । जिसमें थोड़ी वायु का प्रयोग होता है । वह

अल्पप्राण तथा जिसमें वायु का अधिक प्रयोग होता है, उसे महाप्राण कहते हैं। प्रत्येक वर्ग के प्रथम, तृतीय और पंचम वर्ण अल्पप्राण तथा द्वितीय और चतुर्थ वर्ण महाप्राण हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का सम्बन्ध केवल स्वरों से है। उदात्त का अर्थ है – ऊपर उठा हुआ अर्थात् आरोही स्वर। अनुदात्त का अर्थ है – नीचे गिरा हुआ अर्थात् अवरोही स्वर तथा स्वरित का अर्थ है-"सम" अर्थात् जो न आरोही हो न अवरोही।

करण, गतिशील इन्द्रियों को कहते हैं। स्थान और करण में स्थिरता और चलनता का अन्तर होता है। अधरोष्ठ, जिह्वा, कोमल तालु, तथा स्वर तन्त्रीकरण की कोटि में गणनीय है। स्थान, करण और प्रयत्न के मेल से अनन्त ध्वनियां उत्पन्न हो सकती हैं। स्थान, करण और प्रयत्न का महत्त्व उदाहरण से सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है। "क" और "प" का अन्तर स्थानगत है, किन्तु "क" और "ख" का अन्तर प्रयत्नकृत है। करण का अर्थ इन्द्रिय है। जिस प्रकार एक ही स्थान अथवा प्रयत्न से समस्त ध्वनियों का उच्चारण संभव है, उसी प्रकार करण भी एक नहीं रहता। स्थान अचल होता है और करण चल। उदाहरण के लिये तालु स्थान है तो जिह्वा करण, क्योंकि जिह्वा की गतिशीलता के कारण अनेक स्थानों का स्पर्श होता है तथा अनेक प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न होती हैं।

ध्वनियों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है – स्वर और व्यञ्जन। "स्वतो राजन्ते" इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वर उसे कहते हैं, जिसका उच्चारण स्वयं हो, और व्यञ्जन वह है, जिसके उच्चारण में स्वर का सहयोग अनिवार्य हो। स्वर और व्यञ्जन की ये पारंपरिक परिभाषाएं आज अग्राह्य हो चुकी हैं। क्योंकि इनमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोष आ गये हैं, तथा अनेक उदाहरण इन परिभाषाओं की परिधि में आबद्ध नहीं हो पा रहे हैं। संयुक्त, स्वर, कात्स्न्र्य आदि अनेक उदाहरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। "संयुक्त" में क् और त् का संयोग है। क् में कोई स्वर नहीं है, फिर भी उसका उच्चारण सरलतापूर्वक होता है। इसी प्रकार "स्वर" शब्द स् में कोई स्वर नहीं है, फिर भी उसका उच्चारण होता है। सम्पूर्णता के अर्थ में प्रयुक्त "कात्स्न्र्य" शब्द में र् त् स् और न् में चार व्यंजन बिना स्वर की सहायता से सरलतापूर्वक

सुस्पष्ट रूप से उच्चारित होते हैं । इस प्रकार व्यञ्जन के उच्चारण के लिए स्वर का सहयोग अनिवार्य नहीं है । आधुनिक भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से "स्वर" वे ध्वनियां हैं, जिनका उच्चारण करते समय निःश्वास में कहीं कोई अवरोध नहीं होता तथा "व्यञ्जन" वे ध्वनियां हैं, जिनका उच्चारण करते समय निःश्वास में कहीं न कहीं अवरोध होता है । अ,इ,उ ,ए, ओ आदि स्वरों के उच्चारण में बिना अवरोध के मुखविवर से श्वास-वायु के निकल जाने के बाद भी जो भेद परिलक्षित होता है, उसके अनेक कारण हैं, यथा जिह्वा की ऊंचाई, जिह्वा का उत्थापित भाग तथा ओष्ठों की स्थिति । जिह्वा की ऊंचाई के आधार पर स्वरों के विवृत, अर्द्धविवृत, अर्धसंवृत और संवृत ये चार भेद हो जाते हैं । जिह्वा के उत्थापित भाग के अनुसार स्वरों के अग्र, केन्द्रीय और पश्च भेद होते हैं । ओष्ठों की स्थिति के आधार पर स्वरों के प्रसृत, वर्तुल और अर्द्ध वर्तुल ये तीन भेद हो जाते हैं ।

स्वरों की भांति स्थान और प्रयत्न के आधार पर भी व्यंजनों का वर्गीकरण किया गया है । स्थान के आधार पर व्यंजनों के कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य आदि भेद होते हैं । आभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों के स्पर्श, स्पर्शसंघर्षी,संघर्षी, पार्श्विक, लोडित, उत्क्षिप्त, अन्तःस्थ अथवा अर्धस्वर तथा अनुनासिक ये आठ भेद भाषावैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत हैं । "पाणिनीयशिक्षा" में महर्षि पाणिनि ने ध्वनियों के वर्गीकरण के पांच आधार बताये हैं -स्वर, काल. स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान ।[१०] यहां "प्रयत्न" शब्द से आभ्यन्तर प्रयत्न अभिमत है तथा "अनुप्रदान" शब्द से बाह्य-प्रयत्न ।

ध्वनियों का उच्चारण करते समय स्थान, करण और प्रयत्न के अतिरिक्त कतिपय अन्य तत्व भी काम करते हैं, जिन्हें भाषावैज्ञानिकों ने "ध्वनि-गुण" की संज्ञा प्रदान की है । इनमें मात्रा, सुर, आघात और वृत्ति उल्लेखनीय है । ध्वनि -गुणों में "वृत्ति" का समाहार पाश्चात्य विद्वानों ने नहीं किया है, किन्तु यजुः-शाखीय "पाणिनीय-शिक्षा" में इसका उल्लेख है । तदनुसार वृत्ति के तीन भेद हैं-द्रुत, मध्यम और विलम्बित । वृत्ति का सम्यक् निर्वाह न होने से उच्चारण एवम् अर्थबोध दोनों उत्पन्न हो जाता है । स्वयं अभ्यास करते समय द्रुत, दूसरे से बात करने समय मध्यम और अध्यापन के लिये विलम्बित वृत्ति प्रशस्य

मानी गई है ।[११] भारतीय भाषा-वैज्ञानिक -परम्परा में मात्रा, स्वर, आघात और वृत्ति नामक ध्वनिगुणों का अत्यधिक महत्त्व माना गया है । स्वर या वर्ण की दृष्टि से अशुद्ध उच्चारण वांछित अर्थ को व्यक्त नहीं कर पाता । ऐसा अशुद्ध प्रयोग, प्रयोक्ता को नष्ट कर देता है, जिस प्रकार "इन्द्रशत्रु" शब्द में स्वर का गलत प्रयोग करने के कारण वृत्र का नाश हो गया है ।[१२]

औच्चारणिक भाषाविज्ञान से उपर्युक्त समस्त तत्वों का "पाणिनीय-शिक्षा" में अत्यन्त विशद तथा सूक्ष्म विवेचन किया गया है । तदनुसार ६३ या ६४ वर्ण हैं, जिसमें २१ स्वर, २५ स्पर्श, यादि ८ तथा ४ यम कहे गये हैं । अनुस्वार, विसर्ग, पराश्रित क् तथा प् दुःस्पृष्ट, तथा प्लुत-लृकार सहित ६४ वर्ण हैं । वर्णविदों ने स्वर, काल, स्थान, आभ्यन्तर-प्रयत्न तथा बाह्य-प्रयत्न से इनका पंचधा विभाजन किया है । पाणिनीय-शिक्षा के अनुसार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वरभेद तथा ह्रस्व, दीर्घ प्लुत ये तीन स्वरनियम स्वर के विषय में कालकृत हैं ।[१३] उदात्त में निषाद एवं गान्धार, अनुदात्त में ऋषभ तथा धैवत और स्वरित में षड्ज, मध्यम तथा पंचम अन्तर्भूत हैं ।[१४] इसी प्रसंग में महर्षि पाणिनि ने वर्णों के उरः, कण्ठ, शिरः, जिह्वामूल, दन्त, नासिका तथा ओष्ठ नामक आठ, वर्णों के उच्चारण-स्थानों तथा विसर्ग की आठ गतियों का भी निरूपण किया है । तदनुसार वर्ण के पंचम वर्ण तथा अन्तःस्थ वर्ण से संयुक्त हकार उरःस्थानीय एवं असंयुक्त हकार कण्ठस्थानीय हैं ।[१५]

सवर्णसंज्ञोपयोगी स्थानों का निर्देश करते हुए पाणिनि ने बताया है कि "अ" तथा "ह" का कण्ठ, इ, चवर्ग य् और श् का तालु, "उ" तथा पवर्ग का ओष्ठ, " ऋ" टवर्ग, "र" तथा ष् का मूर्धा, "लृ" तवर्ग, ल् और स् का उच्चारण स्थान दन्त है ।[१६] क वर्ग का जिह्वामूल, "व्" का दन्तोष्ठ, ए, का कण्ठतालु, तथा ओ, औ का उच्चारण स्थान कण्ठोष्ठ है ।[१७]

महर्षि पाणिनि के अनुसार "ए-ऐ" में अर्धमात्रा तथा "ओ-औ" में एक मात्रा कण्ठ की होती है । उनके भी विवृत तथा संवृत प्रयत्न होते हैं ।[१८] संवृत की एकमात्रा तथा विवृत की दो मात्रा होती है । सभी घोष संवृत तथा सभी अघोष विवृत होते हैं ।[१९] स्वर तथा ऊष्म

वर्ण का प्रयत्न विवृत है । उनमें भी "एङ्" विवृततर तथा "ऐच्" विवृततम है ।[२०]

विभिन्न वर्णों के उच्चारण स्थानों के विशद निरूपण के साथ ही महर्षि पाणिनि ने समस्त वर्णों की उच्चारण विधि का भी सोदाहरण निरूपण किया है । तथा विधिपूर्वक उच्चारण करने की दिशा में सदैव रहने की प्रेरणा प्रदान की है । पाणिनि का स्पष्ट निर्देश है कि "अस्पष्ट तथा पीडित" उच्चारण नहीं करना चाहिये । सम्यक् रूप से वर्णों का उच्चारण करने से उच्चारण करने वाला व्यक्ति ब्रह्मलोक में पूजित होता है ।[२१]

इसी सन्दर्भ में षड्विध अधम पाठकों, उत्तम पाठकों, के क्रमशः अवगुणों का भी निरूपण किया है। तदनुसार "गाते हुए पढ़ने वाला, शीघ्र पढ़ने वाला, शिर हिलाते हुए पढ़नेवाला, स्तोत्र को पढ़ने वाला, अर्थ को बिना समझे पढ़ने वाला, अल्पपाठ का कण्ठस्थ पाठ करने वाला ये छः प्रकार के पाठक अधम हैं ।"[२२] महर्षि पाणिनि के अनुसार माधुर्य, स्पष्ट अक्षरों का उच्चारण, पदों का विभाग, सुस्वरता, सुन्दरता और लययुक्तता ये छः पाठक के गुण हैं ।[२३] वर्णों का उच्चारण किस प्रकार नहीं करना चाहिए[२४] तथा किस प्रकार करना चाहिए[२५] इसका सोदाहरण विवेचन किया है । तदनुसार प्रातःकाल उरः स्थित बाघ के समान गम्भीर स्वर से तथा मध्याह्न में कण्ठस्थित चकोर की ध्वनि के समान[२६] और सायंकाल मयूर, हंस तथा कोयल के स्वरों के समान शिरःस्थित नाद स्वर से पाठ करना चाहिए । इस प्रकार प्रातः गम्भीर स्वर में तथा सायंकाल तारस्वर में उच्चारण करने का निर्देश महर्षि पाणिनि ने दिया है ।[२७]

पाणिनीय-शिक्षा में भगवान् पाणिनि ने उच्चारण स्थानों की भांति वर्णों के आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों का वैज्ञानिक विवेचन भी किया है । तदनुसार स्वरों का अभ्यान्तर प्रयत्न अस्पृष्ट-विवृत, यण् का ईषत्पृष्ट तथा ईषत् विवृत, शल् का अर्धस्पृष्ट-ईषद् विवृत (अर्थात् यण् की अपेक्षा अधिक विवृत) शेष हल् वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न होता है ।[२८]

बाह्य-प्रयत्न के भेद से वर्ण-भेद का निरूपण करते हुए पाणिनि ने बतलाया है कि य, म, अनुनासिक, हकार तथा रेफ अनुनासिक से

रहित, ह तथा झष् का नाद-प्रयत्न होता है। यण् तथा जश् ईषन्नाद हैं तथा खफादि श्वास-प्रयत्न वाले हैं।[२९] चर् ईषद्श्वास वाला है।

इस प्रकार भगवान् पाणिनि ने स्वकृत "पाणिनीय-शिक्षा" में वर्णों की उत्पत्ति, उनके स्थान तथा प्रयत्न की वैज्ञानिक व्याख्या की है और शुद्ध उच्चारण की विधि का सोदाहरण विवेचन कर भाषा की सुरक्षा चिरस्थायिता का पथप्रदर्शन किया है। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस तथ्य का सुस्पष्ट निर्देश किया है कि "एकः शब्दः सुप्रयक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामुधक् भवति।"[३०] पाणिनीय-शिक्षा तथा अन्यान्य शिक्षा-ग्रन्थ इसी शुद्ध उच्चारण के शास्त्र हैं। भारतीय परम्परा में शिक्षाशास्त्र वाणी का धाम कहलाता है, जिसके प्रथम-प्रवर्तक भगवान् पाणिनि हैं। उन्होंने इस शास्त्र का प्रदर्शन कर ध्वनि-वैज्ञानिकों का पथ-प्रशस्त कर दिया है। औच्चारणिक-ध्वनिविज्ञान के क्षेत्र में भगवान् पाणिनि के इस महनीय योगदान के लिए विश्व के समस्त भाषावैज्ञानिक यावच्चन्द्रदिवाकर उनके ऋणी रहेंगे।

येन धौता गिरः पुंसा विमलैः शब्दवारिभिः।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः॥

सन्दर्भ

१. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। पातञ्जलमहाभाष्य।

२. यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरूपजन्यते। स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः॥ भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्

३. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक, १/२

४. डॉ. भोलानाथ तिवारी- भाषाविज्ञान, पृष्ठ २७०

५. वेदव्यास,-महाभारत, शान्तिपर्व-३४२/१०४

६. डॉ. राजबली पाण्डेय, हिन्दु धर्मकोश, पृष्ठ ६२७

७. पाणिनीय-शिक्षा -१

८. पाणिनीय-शिक्षा, ६-७

९. पाणिनीय-शिक्षा, ८-९
१०. पाणिनीय-शिक्षा, ९-१०
११. पाणिनीय-शिक्षा, २२
१२. महाभाष्य, पस्पशाह्निक
१३. पाणिनीय-शिक्षा, ११
१४. पाणिनीय-शिक्षा, १२
१५. पाणिनीय-शिक्षा, १६
१६. पाणिनीय-शिक्षा, १७
१७. पाणिनीय-शिक्षा, १८
१८. पाणिनीय-शिक्षा, १९
१९. पाणिनीय -शिक्षा, २०
२०. पाणिनीय-शिक्षा, २१
२१. पाणिनीय-शिक्षा, ३१
२२. पाणिनीय-शिक्षा, ३२
२३. पाणिनीय-शिक्षा, ३३
२४. पाणिनीय-शिक्षा, ३४-३५
२५. पाणिनीय-शिक्षा, ३७-३७
२६. पाणिनीय-शिक्षा, ३६
२७. पाणिनीय-शिक्षा, ३७
२८. पाणिनीय-शिक्षा, ३८
२९. पाणिनीय-शिक्षा -३९
३०. पातञ्जल-महाभाष्य

4

शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों में वर्णोत्पत्ति का सिद्धांत

डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल

०. प्राचीन भारतीय चिंतन में स्वनविज्ञान (= ध्वनि विज्ञान = फोनेटिक्स) का सूत्रपात ८००-९०० ई, पूर्व स्वीकार किया गया है ।[१] आज जिसे हम स्वनविज्ञान की संज्ञा से अभिहित करते हैं उसे भारतीय चितन में "शिक्षा" कहा गया है । डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अनुमान है कि इसके लिए "उच्चारण शिक्षा सिद्धांत" शब्द का प्रयोग होता था ।[२] इसके लिए कहा गया है-शिक्षा स्वरवर्णोपदेशकं शास्त्रम् ।[३] इसी प्रकार पहले प्रातिशाख्यों के लिए "पार्षद" शब्द का प्रयोग किया जाता था, जोकि शायद अधिक सार्थक भी था । कई बार भाष्यकारों ने ऋक् प्राति. के लिये पार्षद् शब्द का प्रयोग किया है ।[४] कहा जाता है कि इनका यह नाम इसलिए पड़ा कि ये वैदिक समाज के विशेष वर्ग अर्थात् परिषद् या वर्गों से संबद्ध होते थे, जिनमें कि अन्य प्रसंगों के अतिरिक्त वैदिक मंत्रों के उच्चारण के लिए मौखिक प्रशिक्षण या खुली चर्चा के द्वारा ध्वनि विज्ञान के सर्वमान्य सिद्धांतों को प्रयुक्त किया जाता था । पार्षद् शब्द इस बात को भी जतलाता है कि इन ध्वनिशास्त्रीय ग्रंथों को दीर्घ काल तक लिपिबद्ध नहीं किया गया था । इसीलिए इनका मूल रूप यास्क के काल (५०० ई.पू.) से भी बहुत पहले विद्यमान रहा होगा, क्योंकि उसने स्वंय इसका उल्लेख किया है ।[५] इससे स्पष्ट है कि शब्द से सामान्य स्वन विज्ञान (Generral Phonetics) तथा प्रातिशाख्य से व्यावहारिक स्वन विज्ञान (Applied Phonetics) अभिप्रेत था । इस संदर्भ में राबिन्स ने लिखा है- "सैद्धांतिक चिंतन तथा अनुप्रयोग दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय स्वन विज्ञान पश्चिम से बहुत आगे हैं ।"[६]

००.प्रकृत विषय आज की भाषा वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली में स्वनविज्ञान (= ध्वनि विज्ञान) की औच्चारणिक (Articulatory) शाखा

की परिधि में आता है । इस शाखा के अंतर्गत स्वनों की उत्पादन प्रक्रिया पर विचार किया जाता है । अन्य शाखाओं की अपेक्षा स्वनविज्ञान की यह शाखा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और पूरे विश्व के भाषा वैज्ञानिकों ने इस पर गहन चिंतन किया है । इस शाखा के संबंध में सबसे अधिक सामग्री उपलब्ध है ।

वर्ण ही व्यक्त ध्वनियों की मूल इकाई होते हैं । शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों में वर्णों की उत्पत्ति के मूलाधारों में स्थान, प्रयत्न और करणों का अध्ययन भाषा-विज्ञान के लिए परमोपयोगी है । भारतीय चिंतन में इन सभी पक्षों पर पहुत गहराई से विचार किया गया है । यहां केवल वर्णोत्पत्ति और तत्संबंधित संदर्भ-पक्ष का विवेचन किया जा रहा है ।

१.१ वर्णोत्पत्ति में वायु सिद्धांत

वर्णों की उत्पत्ति वायु से होती है और वह वायु आकाश से उत्पन्न होती है ।[७] इस आकाशवर्ती वायु में शब्द जलतरंग के समान विलीन रहता है ।[८] वायु में विलीन वे शब्द वायुरूपात्मक ही होते हैं ।[९] परंतु विवृत आकाश से व्यक्त वर्णों की उत्पत्ति नहीं होती इस प्रत्युत्तर के समाधान के लिए वाजसनेयि प्रातिशाख्यकार ने शरीराभ्यन्तरवर्ती[१०] आकाश एवं वायु की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि शरीर में तीन[११] स्थानों से संघातित[१२] होती हुई वह वाक् (वर्ण) स्वरूप को प्राप्त होकर उच्चरित होती है ।[१३]

शरीरवायु शरीर के तीन स्थानों से समुत्थित होती हुई क्रमशः तीन स्तर की ध्वनियों को उत्पन्न करती है-

(१) उर से धीमी, (२) कंठ से ऊंची एवं मूर्धा से और ऊंची ध्वनि प्रयत्नानुसार उच्चरित होती है । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[१४] में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि हृदय, कंठ एवं शिर से क्रमशः - मन्द्र, मध्यम एवं तार ध्वनि, व्याघ्र, चक्रवाक् एवं मयूर के गर्जन, गुञ्जन एवं कूजन के समान उच्चरित होती है ।

ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार शरीर में विद्यमान पांच प्रकार की वायु में से प्राण वायु को वर्णोच्चारण का उत्पादन कारण स्वीकार करते हुए कहा गया है कि प्राण वायु विवृत और संवृत अर्थात् श्वास और नाद इन दो अवस्थाओं से वक्ता के अधीन होकर संचारित होती हुई

वर्ण भाव को प्राप्त होती है[१५] तथा वायु की श्वास और नाद ये दोनों गतियां वर्णोत्पत्ति की मूल प्रकृति होती हैं।[१६]

ऋक्तन्त्र के प्रथम प्रपाठक में भी वाक् वृत्ति की उत्पत्ति का मूल कारण वायु को ही स्वीकार करते हुए लिखा गया है कि वायु ही इस शरीर में संचरण करती हुई आकाश (कण्ठावकाश) में पहुंचकर श्वास एवं सिर में नाद संज्ञक वाक् को उत्पन्न करती है ।[१७]

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में शरीरवर्ती वायु के क्रमशः उरः और कण्ठ के मध्य देश से समीरण करने से शब्दोत्पत्ति होती है ।[१८]

अथर्ववेद प्रातिशाख्य में-श्वास और नाद से स्वरों की उत्पत्ति घोष और अघोष ध्वनियों के रूप में होती है ।[१९]

वर्णोच्चारण शिक्षा में स्वरोत्पत्ति में वायु को ही मूल कारण माना गया है ।[२०]

पाणिनीय शिक्षा में स्वरोत्पत्ति में वायु को मूलकारण स्वीकार करते हुए वायु के उरः, कण्ठ और शीर्ष इन तीनों स्थानों से क्रमशः मन्द्र, मध्यम और उच्चस्वर उत्पन्न होते है--ऐसा माना गया है ।[२१] व्यास शिक्षा में वर्णित है कि देहस्थ वायु, आभ्यन्तर प्रयत्नों से मंद्रध्वनि उत्पन्न करती है ।[२२]

शंभु शिक्षा के अनुसार हृदय के प्रदेश में संचारित होती हुई (मनरूपी वायु) कायाग्नि[२३] को जब प्रेरित करती है तब मंद्र स्वरोत्पत्ति होती है ।

नारदीय शिक्षा षड्ज, ऋषभ, गांधार सातों स्वरों के लक्षणोल्लेखन में नाभि, कंठ और सिर से वायु आश्रित स्वर उत्पन्न होते हैं ।[२४]

आपिशालि शिक्षा के अनुसार - वर्णोत्पत्ति में मूलकारण वायु ही है।[२५] इसी शिक्षा के सूत्र क्रमांक आठ "नाभितल प्रकरण" में वर्णोत्पत्ति के संदर्भ में निम्नोल्लेख है-

"तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्न प्रेरितः प्राणो नाम वायुरुर्ध्वमाक्रामन्नुरः प्रभृतीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेनविधार्यते । सविधार्यमाणोवायुः स्थानमभिहन्ति । तस्मात् स्थानभिघातात् ध्वनिरुपत्पद्यत आकाशे सा वर्ण श्रुतिः । स वर्णस्यात्मलाभः ।" [२६]

"शिक्षासूत्राणि" के संपादक युधिष्ठिर मीमांसक ने चन्द्र शिक्षा के सूत्र क्र. १ में स्थान, करण और प्रयत्न को वर्णोत्पत्ति का आश्रय माना हैं ।[२७]

१.२ वर्णोत्पत्ति में "विवक्षा" सिद्धांत

वर्णोत्पत्ति के संबंध में शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रंथों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्णों की उत्पत्ति शरीराभ्यन्तरवर्ती वायु से होती है। जब शरीर के नाभितल से वायु उत्क्रमित होती है तब उर, कंठ और सिर (मूर्धा) से अभिघातित होता है। वायु की इस गति को श्वास एवं नाद संज्ञा दी गई है। परन्तु यह श्वास एवं नाद संज्ञक वायु अव्यक्त होती है। वायु से निष्पन्न व्यक्त ध्वनि को ही वर्ण कहते हैं। ये वर्ण वक्ता की ही इच्छा के अनुसार ही वक्ता के नाभितल से उद्गमित होते हैं। जिन तार्किक धारणाओं से युक्त वक्ता की विवक्षा होगी उन्हीं भावनाओं से गुम्फित वर्णों को वायु अनुप्रदान करती है।[२८]

पाणिनि ने वर्ण विज्ञान के सूक्ष्मतम उद्भव को शरीर विज्ञान कोष से अन्वेषित और परीक्षित करके आत्मा, बुद्धि और मन की एक रूपात्मक, प्रक्रियाओं को वक्ता की कायाग्नि को मरुत् (वायु) से प्रेरित किया है।[२९] यह विवक्षा सिद्धांत सर्वमान्य, वैज्ञानिक एवं अत्यन्त सूक्ष्म है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के १३-३ पर वर्ण निष्पत्ति के संबंध में वक्ता के चेष्टात्मक गुण का संयोग वायु से होता है। तब वही वायु प्रयत्नों के द्वारा वर्णत्व को प्राप्त करके अनेक रूपात्मक वर्णों को प्राप्त हो जाती है।[३०]

उक्त विवक्षाधीन वायु, यंत्रात्मक शरीर के बाह्याभ्यंतर प्रयत्न स्थान और करण के अनुसार उच्चारण वैभिन्न से ह्रस्व , दीर्घ आदि भेदों के सृजन का कारण बनती है। प्रकृत निबंध के उपक्रम के अनुसार यह जानना आवश्यक है कि उत्तम वायु एवं विवक्षा से निष्पन्न वर्ण किन आधारों पर "वर्ण संज्ञा" को प्राप्त करते हैं।

१.३ वर्ण की मानसी सृष्टि का सिद्धांत (= अव्यक्त ध्वनि)

वर्णोत्पत्ति के संबंध में महामुनि ने आत्मा, बुद्धि, मन, कायाग्नि और मरुत इन पांच कारणों को उद्धृत किया है।[३१] ये पांचों कारण अव्यक्त ध्वनि की उत्पत्ति में मूलकारण है। जब तक ध्वनि शरीर गह्वर में संचरण करती रहती है तब तक वह अव्यक्त ध्वनि के रूप

में रहती है । आचार्य शौनक ने ऋक् प्रा. के मंगलाचरण में ऋचाओं का लक्षण, अव्यक्त ध्वनि के सूक्ष्मतम स्वरूपों का चिंतन करते हुए लिखा है[३२] कि सद् और असद् स्वरूप वह ब्रह्म, वेदात्मा, वेदनिधि और वेदगर्भ आदि विशेषणों से युक्त मनसा ध्यानगम्य है ।[३३] और अव्यक्त परब्रह्म के स्वरूप को शब्द ब्रह्म के द्वारा ही जाना जा सकता है ।[३४] एवं उस शब्दब्रह्म के स्वरूप को ऋग्वेद की संहिता के अनुसार चार स्वरूपों में विभक्त किया गया है ।[३५] वाणी के इन चार रूपों में प्रथम तीन (परा, पश्यन्ती, मध्यमा) मनीषियों के मानस पटल द्वारा चिंत्य (ध्यानगम्य) हैं, तथा "वैखरी" नामक चतुर्थवाणी व्यक्त रूप में वेदों में वर्णित है । अतएव परा, पश्यन्ती और मध्यमा ये तीनों, वाणी के स्वरूप योगियों की मानसी सृष्टि के प्रथम कारण हैं । "ऋषयो मंत्र द्रष्टारः" इस विवृत्ति के अनुसार मनीषी ऋषिगण अपने मन में ही सर्वप्रथम देश, काल के अनुसार मंत्रों के प्रतिचरण में स्वर, वर्ण और मात्रा की शक्ति सन्निहित कर देते हैं। इसी मंत्र राशि के सशक्त मानसिक सृजन को वेद[३६] कहते हैं । वेद और आत्मा का अन्योन्य संबंध स्पष्ट करने के लिए आचार्य शौनक ने मंगलाचरण में " वेदात्मा" विशेषण दिया है ।[३७] वाक् विवक्षा में मन ही वृद्धि के द्वारा आत्मा को प्रेरित करता है तभी अव्यक्त ध्वनि की मानसी सृष्टि होती है ।

इसी संदर्भ में आचार्य माण्डूकेय और उनके ज्येष्ठ पुत्र के बीच वाणी और मन की पूर्वापरता के संबंध में जो विवाद हुआ है, उसका प्रतिष्ठापन इस प्रकार किया गया है-- माण्डूकेय के अनुसार वक्ता को सर्वप्रथमवर्ण में वाणी की दृष्टि और उत्तरवर्ण में मन की दृष्टि करनी चाहिए। परंतु माण्डूकेय के ज्येष्ठ पुत्र इसके ठीक विपरीत कहते हैं कि पूर्व वर्ण में वक्ता को मन का ध्यान होना चाहिए और उत्तर वर्ण में वाणी का ध्यान करना चाहिए ।[३८]

विवृत्तिभाष्य में इसी आशय को स्पष्ट किया गया है ।[३९]

१.३ वर्णोत्पत्ति के पूर्व ध्वनि की स्थिति

वर्णभाव को प्राप्त होने से पूर्व ध्वनि अव्यक्त रूप में वायु आत्मा, बुद्धि और मन में विलीन रहती है ।[४०] यह ध्वनि विवक्षाधीन रहती है । यही शरीराभ्यंतरवर्ती वायु क्रमशः उर (हृदय) कण्ठ मार्ग से सिर

से अभिघातित होकर वर्णो के स्वरूप में उच्चारित होती है ।[४१] ध्वनि की यह प्रथम प्रस्फुटित अवस्था स्वर के रूप में स्फुरित होकर क्रमशः स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान इन पांच उपादानों से निष्पन्न होकर वर्णस्वरूप को प्राप्त होती है ।[४२] यही ध्वनि की व्यक्त ावस्था है । ऋग्वेद प्रातिशाख्य में शब्दब्रह्म की महत्ता के संबंध में विष्णुमित्र भाष्य वृत्तिकार ने "अव्यक्तावस्था-व्यक्तावस्था की और स्फुटित होंने वाली ध्वनि (वाणी) की सात अवस्थाओं का उल्लेख किया है । ये सात अवस्थाएं हैं -

(१) उपांशु, (२) ध्वान, (३) निमद, (४) उपब्दिमत्, (५) मन्द्र, (६) मध्यम, (७) तार, ।[४३]

१.३ १. उपांशु का अर्थ है - बिना शब्द किए मन ही मन में किया जाने वाला उच्चारण अर्थात् कानाफूसी करते समय का उच्चारण । उपांशु अवस्था में वक्ता की चेष्टा के अनुसार प्रयत्न तो होता है । तै. प्रा. में कहा गया है कि करण व्यापार से युक्त शब्दरहित ध्वनि की अवस्था को उपांशु कहते है ।[४४] इसी को आज की भाषावैज्ञानिक शब्दावली में जपित स्वर कहते हैं ।

१.३.२ ध्वान से तात्पर्य उच्चारण की उस अवस्था से है जिसमें स्वर तथा व्यंजनों के भेद का ज्ञान न हो । "ध्वान" ध्वनि के उत्पत्ति का निकटतम स्वरूप है । ध्वान में ध्वनि होती है परन्तु स्वरों और व्यंजनों के भेद का ज्ञान नहीं होता ।

१.३.३ निमद से तात्पर्य उस उच्चारण से है जिसमें स्वरों एवं व्यजनों का भेद ज्ञान हो जाए । यह ध्वनि का तीसरा स्थान है तथा ध्वान के बाद की स्थिति होने के कारण निमदावस्था में अक्षर और व्यंजनों के स्वरूपों का ज्ञान होता है ।[४५]

१.३.४ उपब्दिमत् का अर्थ है - उच्चध्वनि से किया जाने वाला उच्चारण । इस अवस्था में अक्षर और व्यंजनों वर्णों की सशब्द उपलब्धि होती है ।[४६]

१.३.५. मन्द्र से तात्पर्य है-हृदय में उच्चारित होने वाला वर्णों का स्थान । तै.प्रा. में इसके स्वरूप के विषय में कहा गया है कि हृदय प्रदेश से व्याघ्र के समान मन्द्र ध्वनि उत्पन्न होती है ।[४७]

१.३.६ मध्यमावस्था से तात्पर्य है-कण्ठ में उच्चारित होने वाला

वर्णों का स्थान। तै.प्रा. के अनुसार इसमें चक्रवाक के कूजने के समान ध्वनि होती है।[४८]

१.३.७ "तार" वाणी से तात्पर्य है-उच्चध्वनि से उच्चारण। इसमें मयूर हंस या कोकिल के समान तीव्र ध्वनि होती है।[४९]

उपर्युक्त वाणी के सात स्थानों में से उपांशु और ध्वान इन दोनों अवस्थाओं में वर्ण विवक्षाधीन रहते हुए अव्यक्त या अश्रुत रूप में ध्वनि में समाहित रहते हैं। तत्पश्चात् क्रमशः निमदादि स्थानों में संचरित होती हुई ध्वनि वर्ण विशेष के विभिन्न स्वरूपों में व्यक्त होती है।

तै.प्रा. में वर्ण विशेष की उत्पत्ति[५०] के संदर्भ में पांच "करणों" के द्वारा ध्वनि वर्ण विशेष के स्वरूप को प्राप्त हो जाती है। ये पांच करण हैं-

(१) अनुप्रदान, (२) संसर्ग, (३) स्थान, (४) करण और (५) परिणाम।[५१] इन्हीं पांच करणों के द्वारा वर्ण वैभिन्न होता है। ये ही व्यक्त ध्वनि के उपादान कारण हैं। इन्हीं उपादान कारणों से उत्पन्न विभिन्न मिश्रित वर्ण "शब्द" या वाणी के रूप में गुंफित हो जाते हैं।[५२]

२.० वर्ण संज्ञा : आधार एवं नामकरण

प्रथम चरण में वर्णोत्पत्ति के विश्लेषण के अनुसार वक्ता की आत्मा, बुद्धि एवं मन में अव्यक्त रूप से वर्ण एवं शब्दों की सृष्टि की बात स्पष्ट हो जाती है। अब दूसरे चरण का विवेच्य विषय है - व्यक्तावस्था में सर्वप्रथम वर्णाभिधान कब और किस रूप में हुआ।

"वर्णसंज्ञा" का अभिधान-यह विषय अत्यंत गूढ़ है। कारण कि प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर संहिता ग्रन्थों, आरण्यक एवं ब्राह्मण ग्रंथों के विभिन्न उपाख्यानों में सर्वप्रथम वाक् शब्द का प्रयोग किया गया है। वहां वाक् के चार रूपों (१) (परा), (२) पश्यंती, (३) मध्यमा और (४) वैखरी को स्वीकार किया गया है। इन चार रूपों में से तीन रूप योगियों द्वारा गम्य हैं और चतुर्थ वैखरी रूपा वाक् (व्यक्त वाक्) लौकिक प्राणियों के द्वारा श्रव्य एवं उच्चार्यमाण होती है।

ऐतरेय आरण्यक में ध्वनि विज्ञान के विभिन्न स्वरूपों का व्यापक

विश्लेषण मिलता है, जिसका विवेचन यहां न तो संभव है और न ही अपेक्षित । फिर भी प्रमाणस्वरूप एक उदाहरण प्रस्तुत है–

पृथिव्याः रूपं स्पर्श अन्तरिक्षस्योष्माणो दिवः स्वराः अग्नेः रूपं स्पर्शावायोरूष्माणा आदित्यस्य स्वराः ऋग्वेदस्य रूपं स्पर्शाः यजुर्वेद-स्योष्माणः सामवेदस्य स्वराश्चक्षुषो रूपं स्पर्शाः श्रोत्रस्योष्माणो मनसः स्वराः प्राणस्य रूपं स्पर्शा अपानस्योष्माणो व्यानस्य स्वराः । (ऐतरेय आरण्यक, ३-२-५) ।

तै.प्रा. में वर्ण संज्ञा का विधान इस प्रकार किया गया है कि "कार" है उत्तर में जिसके वह "वर्ण" संज्ञक होता है ।[५४] जैसे "अ" -कार । वैदिकाभरण भाष्य में वर्ण संज्ञा का प्रयोजन बताते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि "वर्ण" शब्दों के स्वरूप होते हैं इसीलिये किसी "वर्ण" के अतं में कार पद के प्रयोग से उस वर्ण का नामकरण आख्या होता है ।[५५] इसी संदर्भ में लिखा गया है कि अकार से अव्यहित ऐसा वर्ण जिसके उत्तर में "कार" प्रत्यय जुड़ा रहता है वह व्यंजन संज्ञक होता है ।[५६] "वर्ण" शब्द और "कार" शब्द वे दोनों ही वर्णों के स्वरूप बोधक होते हैं ।[५७] जैसे वर्ण –अवर्ण, इवर्ण । तथा कार अकार, ककार, इत्यादि ।

तै.प्रा. में कहा गया है कि सभी वर्णों के मूलकारण शब्द (ध्वनि) होते हैं ।[५८] त्रिभाष्यरत्नकार ने इस संदर्भ में शब्द का पर्यायवाची "ध्वनि" का प्रयोग किया है ।[५९] तथा वर्ण शब्द से स्वर और व्यंजन दोनों वर्णो को स्वीकार किया है ।[६०] वर्णों के लिये "राशि" पद का भी प्रयोग किया गया है ।[६१] तै.प्रा. के वैदिकाभरणभाष्य में वर्ण की परिभाषा दी गई है कि "जो वर्णित होते हैं तथा व्यक्त रूप से ध्वनित होते हैं उन्हें वर्ण कहते हैं जैसे अकार आदि ।[६२] वाजसनेयि प्राति. में "वर्ण" शब्दाभिधान वर्ण–दोष प्रकरण में किया गया है ।[६३] ऋक्तंत्र[६४] ऋग्वेद प्राति. में वर्ण संज्ञा का स्पष्ट उल्लेख किया गया है ।[६५]

२.१ वर्णों की "रंग " संज्ञा

"वर्ण" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में सर्वप्रथम 'रंग' एवं 'जाति' के अर्थ में हुआ है । [६६-६७] नारदीय शिक्षा में ध्वनि का संबंध रंग से समन्वित किया गया है ।[६८] पाणिनीय शिक्षा में भी वर्णों के लिये रंग

संज्ञा का विधान किया गया है ।[६९]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में वर्णों का विवेचन करते हुए लिखा है- स्वर अनेक रंग अर्थात् वर्ण के होते हैं ।[७०]

यद्यपि नारदीय शिक्षा में संगीत के स्वरों के संदर्भ में वर्ण संबंधी उल्लेख है तथापि अन्यत्र मात्र वर्ण के रंग बतलाए गए हैं ।

वर्णों की "स्वर" संज्ञा

ऋ.प्रा. के अनुसार जो स्वंय शब्दायान होते हैं उन वर्णों की स्वर संज्ञा होती है ।[७१] ऋक् प्राति. के अनुसार वर्णों की स्वर संज्ञा होती है ।[७२] पाणिनीय शिक्षा की पञ्जिका के भाष्यकार का आशय है - क्योंकि स्वर स्वयं शब्दायमान होते हुए व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण में सहायक होते हैं इसीलिये इन्हें स्वर संज्ञक वर्ण कहा गया है ।[७३] तै.प्रा. में वर्ण समाम्नाय के आदि वर्ण से लेकर सोलह वर्णों की स्वर संज्ञा का विधान किया गया है ।[७४] व्यास शिक्षा में स्पष्ट रूप से संज्ञा का विधान एवं स्वर संज्ञक वर्णों का उल्लेख किया गया है ।[७५] इसी शिक्षा में स्वर को परिभाषित भी किया गया है [७६] तथा वर्णों की गणना करते हुए स्वर संज्ञा का भी विधान किया है ।[७७]

याज्ञवल्क्य शिक्षा के पूर्वार्द्ध में स्वर-संज्ञक वर्णों के संकेत के लिये "स्वरा राः" पद का प्रयोग किया है [७८] तथा उदात्तानुदात्त स्वरितादि भेदों में स्वर-संज्ञक वर्णों को प्रयुक्त किया है ।[७९] इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा में भी स्वर संज्ञा का विधान करते हुए स्वर वर्णों की गणना की गई है ।[८०]

स्वनविज्ञान की पूर्वपीठिका वर्णोत्पत्ति का जितना सूक्ष्म एवं निर्विकल्पक प्रयोग शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों में हुआ उसे देखते हुए प्राचीन भारत के स्वनविज्ञान की सुदीर्घ परंपरा की स्वतः बात पुष्ट हो जाती है ।

कुछ निष्कर्ष -

१. व्यक्त वर्णों की उत्पत्ति विवृत आकाश से नहीं होती अपितु शरीर के तीन स्थानों-उर, कंठ से होती है । अर्थात् वर्णों की उत्पत्ति शरीराभ्यन्तरवर्ती वायु से होती है ।

२. वर्णोत्पत्ति के मूल में वक्ता की विवक्षा प्रमुख हैं ।

३. भारतीय परम्परा वर्णोत्पत्ति का मूलाधार मानसी सृष्टि को मानती है । इस मानसी सृष्टि के करण हैं, वाणी के तीन स्वरूप-परा, पश्यंती और मध्यमा ।

४. व्यक्त ध्वनि के उपादान कारण हैं-अनुप्रदान, संसर्ग, स्थान, करण और परिणाम ।

५. वाक् के चाँर रूपों-परा, पश्यन्ती , मध्यमा और वैखरी को स्वीकार किया गया है । वैखरी रूपा वाक् (व्यक्तवाक्) ही लौकिक प्राणियों द्वारा श्रव्य एवं उच्चार्यमाण है ।

संदर्भ

१. देखें "प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का अनुशीलन, " पृ.२.

२. वही, पृ. ६.

३. ऋक् प्राति., (बनारस संस्करण) पृ. १०

४. उदा., विष्णु-मित्र, ऋक् प्राति., (बनारस) पृ. १०-१०,

५. डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा. 'प्रा.भा. पै.के. ध्व.वि.का अनु.' पृ. १४

६. What is more remarkable about Indian Phonetic work is its manigest superiority in conception and execution as compared with any thing produced in the west.
A short History of Linguistics, p. 141.

७. वायुः रूयातः,। वाज. प्रा., १-६

८. शब्दस्तत्ः । वही १-७

९. शब्दस्तदात्मको वायुवात्मक इत्यर्थः । वा.प्रा., १-७ पर उव्वट भाष्य

१०. शरीरात् शरीरम् शरीरे । वा.प्रा.,

११. त्रीणि स्थानानि । वा.प्रा., १.-१०

१२. सङ्करोपहितः । वा.प्रा., १.८.

१३. स सङ्घातादीन् वाक् । वा.प्रा., १-९

१४. उरसि मन्द्रं कण्ठे मध्यमं शिरसि तारम् । तै.प्रा., २३.१०

१५. वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा आपद्यते नादतां वा वक्त्रीहायाम् । अ. पा., १३-१

१६. ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति । ऋ. प्रा., १३.३

१७. अथ वाचो वृत्ति। वायुं प्रकृतिमाचार्याः। वायुर्मूर्छच्छवासो भवति नाद इति शाकटायनः ।.....स खलु खे विशेषं प्रतिपन्नः कण्ठं प्रतिपन्नः श्वसितिर्भवति । स श्वसितिः शिरः प्रतिपन्नः आकाशमद्वारकं नदतिर्भवति। ऋक्तंत्र, १.१.

१८. वायुः शरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने। तै.प्रा., २. देवनागरी-२

१९. श्वासोऽघोषेष्ठानुप्रदानः । नादो घोषवत्स्वरेषु । अथर्व प्रा., १.१२-१३

२०. आकाशो वायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥
-वर्णोच्चारणशिक्षा, सूत्र ३ (पाणिनि प्रणीत)

२१. मरुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातः सवन यागं तं छन्दो गायत्रीमाश्रितम्॥
कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुमानुगम्।
तारं तार्तीय सवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥
सोदीर्ण मूर्ध्न्यंयभिहतो वक्त्रमापद्य जागतानुगम्॥
वर्णोज्जनयते तेषा विभागः पञ्चधा स्मृतः॥
पा.शि.प्र., ७.८.९.

२२. वायौचरत्युरस्यन्तर्मन्द्र उद्भवति ध्वनिः । व्यास शिक्षा, २४.३८९

२३. मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। वही, २४.३८९

२४. वायुः समुत्थितो नाभेः कण्ठशीर्ष समाहतः ।
नर्दत्यृषभवत् यस्मात्तस्मात् ऋषभ उच्यते ॥
नारादीय शि., प्रथम प्रपाठक, ५.८.९०

२५. आकाश वायु प्रभवः शरीरात्
समुच्चरन वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थान्तरेषु प्रविभज्यमानो
वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥
आपिशाली शि, श्लोक. क्र.एवं पाणिनीय. वृहद् पाठ कं. १

२६. (अ) आपिशाली शिक्षा सूत्राणि सूत्र क्र. ८ पृ.६
(ब) एवं पाणिनीय सूत्राणि, सूत्र, क्रं. ८ पृ. २३
२७. स्थान-करण-प्रयत्नेभ्योः वर्णा जायन्ते । चान्द्रवर्ण सू.क्र. १
२८. टिप्पणी - १. अनुप्रदान वायुमनु प्रदीयत इत्यनुप्रदानम् । अनु + प्र + दा धातु । अ. प्रा., में १३-१ पर उव्वट भाष्य ।
२. तै.प्रा. के भाष्य में कहा गया है कि 'अनु प्रदीयतेऽनेन वर्ण इत्यनुप्रदानं मूलकारणम् । अनुप्रदीयते उपादीयते जन्यत इत्यर्थः'। तै प्रा., भा. २.८.
२९. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्तेविवक्षया । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।। पाणिनीय शि.सू., क्र.६.
३०. प्रयोक्तुरीहागुणा सन्निपाते, वर्णीभवन्गुण विशेषयोगात् । एकःश्रुती कर्मणाप्नोति वह्नीः । ऋ.प्रा., १३.१३
३१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।। पा.शि., ६
३२. परावरे ब्रह्मणि यं सदाहुर
वेदात्मानं वेद निधिं मुनीन्द्राः ।
तं पद्मगर्भं परमं त्वादिदेवं
प्रणम्यर्चां लक्षणमाह शौनकः ।।
-ऋ. प्रा., वि.वृ., मंगलाचरण ।
३३. द्वे ब्राह्माणी वेदितव्ये शब्दब्रह्मपरं च यत् । शब्द ब्रह्माणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।। ऋ.प्रा., विष्णु वि.
३४. परं नाम मनसाध्यानगम्यं सद् सदात्मकं वेदान्तेषु यदुच्यते । तथा तवेदात्मानं हृदयं मनश्च ।
इति शब्दज्ञान पूर्वकं परब्रह्म ज्ञानम् । ऋ.प्रा., मंगलाचरण, वि.वि. ।
३५. चत्वारिवाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ् गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।। ऋक् संहिता, १.१६४.४५.
३६. विद्यते ज्ञायते लभ्यते त्रैभिर्धर्मादिपुरुषार्थ इति वेदाः ।
मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम् । तत्र व्यभिचारेण तात्स्वर वर्णमात्रापूर्वक पाठः ।

३७. सर्वकालं सर्वदेशेषु प्रतिचरणं मभिभागे नेकैको मन्त्र राशिर्वेद इत्युच्यते। अत सातत्यगमने "सत हं सर्वदा सर्वदेशे सर्वकाले भोक्तृत्वेन च स्रष्टृत्वेन च अतति गच्छति इत्यात्मा।

३८. आध्यात्म क्लृप्तौ शूरवीरः सुतश्च।
वाङ्मनसयो विवदन्त्यानुपूर्व्ये ।।
ऋ.प्रा. वि.वि., मंगला., क्रमांक-३

३९. वाक्पूर्वरूपं मन उत्तर रूपं प्राणः संहिता इत्येकः।
अपस्तद्विपरीतमाहः मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपं इति ।।
- ऋक प्रा., विवृत्तिभाष्य, ३

४०. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्तेविवक्षया।
मनः कायाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। पा. शि., ६

४१. मरुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातः सवनयागं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ।।
कण्ठे माध्यन्दिनयागं मध्यमं त्रैष्टुभांनुगम्।
तारंतातीर्यसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापाद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ।। पा.शि., ७-८-९

४२. स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
इति वर्णविदः प्राहुर्निगुणं तन्निबोधतः ।। पा.शि., १०

४३. उपाँशुध्वाननिमदोपब्दिमन्मन्द्रमध्यमताराणि। तै. प्रा., २३.५

४४. करणावदशब्दगमनः प्रयोगमुपाँशु। तै.प्रा., २३.६

४५. अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिध्वनिः। तै.प्रा., २३.७

४६. उपलब्धिनिमिदः। तै.प्रा., २३.८.

४७. उरसि मन्द्रम्। तै.प्रा., २३.१०

४८. कण्ठे मध्यमम् वही, २३.११

४९. शिरसि तारम्। वही, २३.१२

५०. अथ वर्णविशेषोत्पत्ति। तै.प्रा. २३.१

५१. अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविन्यासात् जायते वर्ण वैशेष्यं

५२. परिणामाच्च पञ्चमादिति। तै.प्रा., २३.३.

५३. वर्णपृक्तश्शब्दो वाच उत्पत्तिः। तै.प्रा., २३.३

५४. वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या। वही, १.१६

५५. वर्णशब्द स्वरूपं कारशब्दोत्तरस्य तस्य वर्णस्य आख्या भवति ।
-तै.प्रा., वैदि. भा., १-१६
५६. अकारव्यवेतो व्यञ्जनानाम् ।। तै.प्रा., १-१७
५७. वर्णकारो निर्देशको ।। वही, २२.४
५८. शब्दः प्रकृतिस्सर्ववर्णानाम् । तै.प्रा., २२.१
५९. सर्ववर्णानां शब्दः ध्वनिः प्रकृतिमूलकारणं भवति । वही, २२.१
६०. वर्णशब्देन स्वर व्यञ्जनात्मको राशिरुच्यते ।। वही
६१. अनादिनिधनो विभुः एकश्शब्दो ब्रह्मव्यपदेशभाक् सर्वेषां वर्णानां प्रकृतिरुपादान कारणं भवति । तै. प्रा., वैदिकाभरणभाष्य, २२.१
६२. तस्य रूपायन्यत्वे वर्णान्यत्वम् । तै.प्रा., २२.२
६३. वर्णदोषविवेकार्थम् ।। १.२६
६४. अर्थ वर्णाः संज्ञा प्रत्याहार समाः ।। १.१
६५. इति वर्णराशि क्रमश्च । १.१०
६६. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि वे दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वध्नीय यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि सजनास इन्द्रः ।।
२.१२.४
६७. रुशद्वत्सा रुशती स्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः ।
समान बन्धु अमृते-अनूची, द्यावा वर्ण चरत अभिनाने ।। १.११३.२
६८. पद्मपत्रप्रभः षड्जः ऋषभः शुकपिञ्जरः ।
कनकाशस्तु गान्धारो मध्यमः कुन्द सप्रभः ।।
पञ्चस्तु भवेत् कृष्णः पीतकं धैवतं विदुः ।
निषादः सर्ववर्णः स्यादित्येता स्वरवर्णता ।। ८४.१-२
६९. यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते ।
एवं रंङ्गानुप्रयोक्तव्याः खेअरां इव खेदया ।। २६ ।।
रंगवर्ण प्रयुञ्जीरन् .....।। २७ ।।
.......रङ्गस्यैवं द्विमात्रता ।। २८ ।।
.......स रङ्गं कम्पयेत् कम्पं रथीवेति निदर्शनम् ।। ३० ।।
७०. तत्रस्वराः शुक्ला नाना दैवत्याः स्पर्शाः कृष्णाः अन्तस्थाः कपिलाः उष्माणोऽरुणाः। यमनीलाः । अनुस्वारः पीतः । विसर्जनीयः श्वेतः । जिह्वामूलीयो रक्तः । उपध्मानीयः पीतः। नासिक्यो हरितः । अतिनीला अनुनासिक्याः । शबलो रङ्गः।। उत्तरार्ध-१

७१. स्वर्यन्ते शब्द्यन्त इति स्वराः । १-३

७२. एते स्वराः । १-३

७३. स्वरा इति स्वृ-शब्दोपपातयोः स्वर्यन्ते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति करणे च प्रत्ययः । (पा.शि., ४ पर पंजिकाभाष्य ।

७४. षोडशादितस्स्वराः ।. तै.प्रा., १.५

७५. अवर्णे वर्णकोवर्णो ऋवर्णो लृत्वमेत्वमैत् ।। ५ ।।
औ दौद्रङ्गौ क्रोमोदेभ्यो स्वरास्स्यु व्यञ्जनोन्यथ ।। ६ ।।

७६. स्वयं राजन्ते नान्येन व्यञ्जनन्त इति स्वराः। ५

७७. एते नवदश वर्णोः स्वर संज्ञा भवन्ति ।।

७८. याज्ञवलक्य शिक्षा का उत्तरार्धारम्भ । ६

७९. अथा तस्तैश्वर्य लक्षणं व्याख्यास्यामः । पू. १-२

८०. स्वरतः कालतः स्था .... । १०

5

कुंतक की वक्रोक्ति विभावना एवं शैलीविज्ञान : एक तुलना

डॉ. अजित ठाकोर

: १ :

सस्यूर ने ऐतिहासिक भाषा विज्ञान (Diachronic Linguistics) और Synchronic Liguistics को सर्वथा पृथक् कर भाषा के अश्मीभूत स्वरूप के स्थान पर वर्तमान जीवंत रचनातंत्र को अभ्यास का विषय बनाया है। इन्होंने भाषा का कोश-व्याकरण-निबद्ध सर्वसाधारण भाषा (Langue) और व्यक्तिगत उच्चरित भाषा (Parore) के बीच रहने वाले code और वास्तविक परिस्थिति में रहने वाले code के विनियोग की रीति को स्पष्ट किया। इनके शिष्य बेली (Bally) ने पेरेल लेंग जिस कारण अलग पड़ता है उसी विचलन और उसके रागात्मक और अभिव्यक्तिगत (Affective and expressing) लक्षणों को स्पष्ट किया। भाषा को व्यवहार के साथ जोड़कर देखने के आग्रह के कारण इन्होंने काव्य-शैली को सहेतुक दूर रखा। किन्तु मार्शल क्रेसोट और उनके अन्य शिष्यों ने बोली के इस अभिगम से अलग होकर साहित्यिक शैली को शैलीविज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्षेत्र के रूप में प्रतिष्ठित किया है। तब से भाषा विज्ञान की पद्धति और उपकरणों से शैलीविज्ञान ने साहित्यिक-कृति की शैलीपरक भाषा संरचना की छानबीन का उद्यम शुरू किया। इससे काव्यालोचन में लक्षित आत्मलक्षिता का स्थान वस्तुपरकता ने ले लिया और साहित्य भाषिक संरचना के रूप में देखा जाने लगा।

भारतीय काव्यशास्त्र में भी भाषालक्षी अभिगम से काव्य को देखने का प्रयास हुआ है। वामन की रीति-विभावना और कुंतक की वक्रोक्ति विभावना "पदरचना" और "उक्ति" को केन्द्र में रखकर काव्य की संरचना का विचार करते हैं। इसमें भी वामन का विचार विशेष वस्तुपरक है।

: २ :

शैली और शैलीविज्ञान विषयक महत्वपूर्ण अवधारणाओं के संन्दर्भ में उसके स्वरूप और कार्य पर पहले विचार किया जाये । शैली की परंपरागत और आधुनिक विभावना के बीच बड़ा भेद देखने को मिलता है । अरस्तू में मिलने वाला शैली का परंपरागत विचार वक्तृत्व-कला के साथ विशेष जुड़ा हुआ है । योग्य शब्द, वाक्य-विन्यास और वाक्अलंकारणों द्वारा ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करने का ही शैली का महत्त्वपूर्ण कार्य था। यह विभावना स्पष्टतः (Prescriptive) यानी सूचनात्मक है ।

शैली की इस परंपरागत अवधारणा के सामने भाषा विज्ञान के प्रभाव के कारण शैली की वर्णनात्मक (Discripitive) अवधारणा सामने आई । सर्वप्रथम सस्यूर ने "लेंग" और "पैरेल" के बीच का भेद स्पष्ट किया । "लेंग" शब्द कोष और व्याकरण मान्य सर्वमान्य भाषा है तो "पैरेल" निजी अभिरुचि युक्त उक्ति है । लेंग भाषा का कोड है तो "पैरेल" इस खास परिस्थिति में निरूपित इस कोड का उपयोग है । बेली सस्यूर को विकसित करते हुए शैली विज्ञान को साहित्यिक दृष्टि और आस्वादमूलक संदर्भ में न देखकर उसे प्रस्तुत भाषा के अभिव्यक्ति मूल उपकरणों (The expressive resources) के अभ्यास के रूप में देखते हैं । इन्होंने आधुनिक भाषाविज्ञान को भाषा के भावात्मक तत्वों (The affective elements) के अभ्यास के रूप में व्याख्यायित किया । उनके मत से भाषा का यह भावात्मक तत्त्व रूढ़ अर्थ वैकल्पिक प्रबंधकों (Optional additions) के रूप में ग्रहण किया जाता हैं । बेली लेंग और पैरेल की चर्चा करते हुए भाषा के तार्किक और भावात्मक उपयोग के बीच भेद करते हैं । मान्य भाषा की रचनात्मकता का ढांचा तो जड़ होता है किन्तु यह मानव-उक्ति में परिवर्तित होकर जीवंत बन जाता है । भाषा को जीवंत बनाने वाले तत्व को (deviation) (विचलन) कहा जाता है । बेली ने आगे चलकर भाषा के भावात्मक भावप्रवण (affective) तत्त्व के साथ अभिव्यंजक (expressive) लक्षण को जोड़कर अपनी विचारणा को पूर्णता प्रदान की है । अलबत्ता, उन्होंने शैलीविज्ञान को पेरेल के अभ्यास तक ही मर्यादित करने की इच्छा की । क्योंकि वे शैली को विज्ञान के रूप

में देखते थे और साहित्यिक शैली-अध्ययन विज्ञान की कक्षा तक पहुंचे यह उन्हें असंभव सा लगता था। बेली के शिष्य मार्शल क्रेसेट इसी अवधारणा को साहित्यिक कृति के संदर्भ में प्रायोजित करते हैं। उनके मत के अनुसार साहित्यिक कृति तो प्रत्यय का ही दूसरा नाम है। और सर्जक इसमें जिन रसात्मक तत्वों का निक्षेप करता है वे भावुक के चित्त को प्रबलता से आकृष्ट करने के साधन मात्र हैं।

उन्होंने साहित्यिक-कृति को शैलीविज्ञान का अति उत्कृष्ट क्षेत्र कहा क्योंकि, इसमें पसंदगी सविशेष, ऐच्छिक और सचेत होती है।

शैली के भिन्न-भिन्न संप्रत्ययों की Enkvist ने On Defining Style में अच्छी चर्चा की है। उन्होंने शैली की आठ अवधाराणों का उल्लेख किया है।

१. शैली अस्तित्व और विचार से एकीभूत है।
२. शैली उचित वस्तुओं का अत्यधिक प्रभावशाली कथन है।
३. शैली विचार या अभिव्यक्ति के मर्म को आच्छादित करता हुआ आवरण है।
४. शैली अभिव्यक्त पर के विकल्पों के बीच की पसंदगी है।
५. शैली व्यक्तिगत लक्षणों का गुण है।
६. शैली स्वीकृत रूढि से संपन्न हुआ विचलन है।
७. शैली सामूहिक लक्षणों का गुण है।
८. शैली भाषकीय Entities का ऐसा सम्बन्ध है जो वाक्य से वृहत्तर समग्र पाठ के संदर्भ में वर्णित किया जाता है।

आधुनिक शैलीविज्ञान शैली के पहले दो सम्प्रत्ययों को अधिक महत्व नहीं देता। शेष सम्प्रत्ययों में से Herbert Seidler का यह मत ध्यातव्य है कि शैली टेक्स्ट में भाषीय उपकरणों के द्वारा सिद्ध किया गया निश्चित भावात्मक प्रभाव है। इसी तरह शैली को पसंदगी मानते हुए क्लीन्स ब्रुक्स और रोबर्ट पेन वोरेन शैली को भाषा-चयन और भाषा-विन्यास के रूप में प्रतिपादित करके (Form) के सन्निकट ले जाते हैं। अक्वीस्ट संदर्भगत कान्टेक्सचुअल प्रोबेबिलिटिज पर (जोर देते हुए टेक्स्ट की शैली उसकी भाषकीय वस्तुओं (लिंग्विस्टिक आइटम्स) संदर्भगत संभविताओं का जोड़ है। इस तरह शैली संदर्भ और भाषिक स्वरूप के बीच की कड़ी है। ऐंकिविस्ट शैली अभ्यास

के लिये लिंग्विस्टिक आइटम के वर्गीकरण (Grouping) पर जोर देते हैं। उनके मत से इससे शैली-चिह्नों को अन्य भाषाकीय घटकों से अलग करने में सुगमता होगी। शैलीपरक पसंदगी निष्क्रिय (तटस्थ) घटकों का चयन करती है। इस तरह अशैलीगत पसंदगी संदर्भ की दृष्टि से निरपेक्ष हैं। जबकि शैलीगत पसंदगी संदर्भ-सापेक्ष है। इससे शैली चिह्नों को परखने और उनके कार्य को प्रमाणित करने में सहायता मिलती है। शैलीविज्ञान, शैलीपरक विचलनों को किस तरह परखा जाये, इसकी विस्तृत मीमांसा करता है। वह कृति को भाषा के रूप में देखने का आग्रह करता है। इसीलिए भाषा-संरचना का वर्ण, शब्द, अर्थ, वाक्य और डिसकोर्स (महाकाव्य) के संदर्भ में विशेषण करता है। विश्लेषण के विविध उपकरणों और प्रतिविधियों की सोस्यूर, क्रेसीट , जाफरी, लीच, ऐंक्वीस्ट, जाकोबसन, मुकारोवस्की, टैलीडे आदि भाषाविदों ने विस्तृत मीमांसा की है। भाषा-विश्लेषण में सामान्यतः लयबद्ध संगीतमय पैटर्न, शब्द चयन, शब्द पुनरावर्तन, पदक्रम, रूपक, कल्पन, प्रतीक, वाक्य-विन्यास, वाक्य-श्रेणियों से निबद्ध बृहद् वाक्य का विचार होता है। वह विचलन, समानतरता, विरलता, विपथन, अग्रप्रस्तुति, उदग्रता और शैली-चिह्नों की प्रविधियों से भाषा-संरचना का अध्ययन करता है।

शैली विज्ञान का आग्रह है कि बाह्य -आरोपण किए बिना कृति को यथावत् स्वीकार करना चाहिए। असरकारक शैली-अभ्यास, चुस्त भाषा, वैज्ञानिक अभिगम और आत्मपरक आलोचना के बीच का रास्ता है। केवल भाषाकीय घटकों के सूचियां तैयार करना शैली का अभ्यास नहीं है। बल्कि अभ्यासी का लक्ष्य कृति की भाषा -संरचना में निहित Organic Principle की पहचान स्थापित करना है।

: ३ :

कुंतक के पूर्व वक्रोक्ति काव्य के मूलभूत तत्व के रूप में प्रतिष्ठित रही है। भामह वक्रोक्ति को अलंकारों का मूलाधार मानते हैं। दंडी स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में समग्र वाङ्मय से विभाजित करते हैं। वामन इसको सादृश्यमूल लक्षण से एकीभूत करते हैं। रुद्रट इसको शब्दालंकार मानकर काकु और भंगश्लेष पर निर्भर मानते हैं।

आनन्दवर्द्धन भामहानुसार वक्रोक्ति को सर्वालंकार रूपा मानते हैं। और विषय-औचित्य को इसका नियामक तत्व मानते हैं।

कुंतक के वक्रोक्ति-विचार में निम्नलिखित विशेषाताएं हैं -

१. शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं और वक्रोक्ति उनका अंलकार है।

२. काव्य में शब्दार्थ और वक्रोक्ति एकीभूत होकर रहते हैं।

३. वक्रता कवि-व्यापार का फल है।

४. शब्द और अर्थ का सायुज्य परस्पर स्पर्धा करने वाले मित्रों के समान अन्यून और अनतिरिक्त है।

५. काव्य में अनेक पर्यायवाची शब्द होते हुए भी विवक्षित अर्थ का एकमेव बोधक शब्द का चयन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

६. वक्रता के गुण और अलंकार वैचित्र्य धारण करते हैं।

७. वक्रता का विचार सदैव काव्य बंध के संदर्भ में ही हो सकता है।

८. काव्य मर्मज्ञों का आनंद वक्रोक्ति की कसौटी है।

९. वक्रताहीन नाम और क्रियापदों के सौशब्द्य से काव्य नहीं बनता।

१०. प्रयोजनहीन तार्किक वाक्य, ग्राम्य वाक्य, अवैयाकरणीय पद वाक्य तथा अत्यंत अर्थहीन समासबाहुल्ययुक्त वाक्य काव्य नहीं है।

११. वक्र से आशय है-"शास्त्रादिप्रसिद्ध शब्दार्थोप निबद्ध व्यतिरेकी" अर्थात् "शास्त्रादि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के उपनिबंधन से भिन्न"। इस तरह वक्रता काव्य भाषा को शास्त्र और लोकभाषा से पृथक् करने वाला तत्व है।

१२. वक्रोक्ति से आशय है-प्रसिद्धाविधान व्यतिरेकी विचित्रैवाभिधा' वैदग्ध्यंविदग्ध भावः, कविकर्मकौशलं तस्य भंगी विच्छित्तिः तया भणितिः। लोक शास्त्र आदि में प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा। कैसी ? वैदग्ध्यपूर्ण शैली से भरी उक्ति, वैदग्ध्य अर्थात् विदग्धता का भाव अर्थात् कवि-कर्म का कौशल। उसकी भंगी यानी विच्छित्ति-शोभा इसके द्वारा हुई उक्ति।

१३. विचित्र अभिधारूप वक्रोति ही अभिधा को काव्यभाषा में रूपांतरित करती है।

१४. इसीलिये अभिधा पर आधारित स्वाभावोक्ति, अलंकार नहीं है, अलंकार्य है। वह वक्रोक्ति अलंकार से ही काव्य में परिवर्तित हो सकता है।

१५. विचित्र अभिधा शब्द की लक्षणा तथा व्यंजना शक्ति को समाहित कर लेती है।

१६. वक्रोक्ति सुकुमार, विचित्र और मध्यम से इन तीन काव्य-मार्गों से व्यक्त होती है। इन मार्गों का स्वरूप कवि स्वभाव के अनुसार निर्मित होता है। वक्रोक्ति वर्ण- पुनरावर्तन, पद का वैचित्र्य भरा प्रयोग, वाक्यार्थ की भिन्न-भिन्न रचनाएं, प्रकरण का उत्कर्ष और प्रबंध कल्पना में सौंदर्य-इन छः प्रविधियों से रची जाती हैं। इसमें लक्षणयुक्त शब्द-चयन का अधिक महत्त्व होता है।

: ४ :

वक्रोक्ति-विचार और शैली-विज्ञान की तुलना अत्यंत रसप्रद है।

वक्रोति-विचार वक्रोक्ति को काव्य का केन्द्रस्थ तत्व या जीवातुभूत -मानता है। जबकि शैली विज्ञान शैली को काव्य के Organising Principle संघटक-सूत्र के रूप में देख़ता है। वह कृति की भाषा-संरचना में निहित पैटर्न को विश्लेषण के जरिए पृथक् करके बताता है और कृति के सौन्दर्य को समझने की भूमिका रचता है। किन्तु वक्रोक्ति भाषा, मार्ग, संवेदन और वस्तु-स्वभाव को अपने में समाहित रखती है। जबकि शैली-विज्ञान केवल कृति-भाषा में रचित शैलियों का ही भाषा वैज्ञानिक अभिगम से अभ्यास करता है। वक्रोक्ति-विचार कवि-प्रतिभा की काव्य के हेतु के रूप में परख करता है। वह शैव -दर्शन के परिस्पंद रूप सम्प्रत्यय से काव्य निर्मिति के स्वरूप और कवि व्यापार को समझाता है। परन्तु शैलीविज्ञान आत्मपरक मानकर इसकी उपेक्षा करता है। वह काव्य-भाषा की संरचना का व्याकरण और भाषा विज्ञान के उपकरणों एवं पद्धतियों का विनियोग करके विश्लेषण करता है, और काव्य-भाषा के विशिष्ट तत्वों को पृथक् करता है। वक्रोक्ति- विचार से काव्य-सौंदर्य का

पूर्ण रूपेण उद्घाटन होता है, जबकि शैलीविज्ञान काव्य-सौंदर्य को समझने की भूमिका रचना तक ही सीमित है । वक्रोक्ति-विचार वक्रोक्ति को कवि-व्यापार के साथ जोड़ता है, जबकि शैली विज्ञान शैली को कवि-व्यापार के साथ, जोड़ने में रुचि नहीं रखता है । वक्रोक्ति विचार वक्रोक्ति-रहित रचना को अकाव्य और वक्रोक्ति समन्वित रचना को काव्य प्रतिपादित कर काव्य और वक्रोक्ति का अविनाभाव संबंध स्थापित करता है । शैली विज्ञान शैली को काव्य-भाषा की संरचना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र मानता है । फिर भी इसका काव्य के अविनाभावि संबंध पुरस्कृत करने का उत्साह इसके वस्तुलक्षी अभिगम या वस्तुपरक दृष्टिकोण, के कारण बाधित होता है । इस तरह शैली विज्ञान विचार की आत्मपरक रीति है ; जबकि वक्रोक्ति आत्मपरक और वस्तु परक दोनों अभिगमों के बीच में सामंजस्य स्थापित करती है । क्योंकि इसमें उक्ति केन्द्र में है । मगर साथ ही कवि और भावुक की भी वह उपेक्षा नहीं करती है । इस तरह कुंतक रीति और रस विचार की आत्यंतिकाताओं का समाहार करने का अभिगम रखते हैं । वक्रोक्ति -विचार सहृदय के आह्लाद को वक्रोक्ति का मानदंड मानता है । इस आनंद का स्वरूप भी लोकोत्तर होता है । शैलीविज्ञान सहृदय का आह्लाद या इसके स्वरूप को आत्मपरक मानकर उपेक्षा करता है ।

वक्रोक्ति और शैलीविज्ञान के केन्द्र में भाषा है । वक्रोक्ति काव्यबंध में उपस्थित उक्ति को ही महत्व देती है । शैलीविज्ञान भी पाठ में अवस्थित उक्ति को ही अभ्यास का विषय बनाता है । क्योंकि कृति-संदर्भ में ही इसका विश्लेषण साभिप्रायता धारण कर सकता है । वक्रोक्ति-विचार वक्रोक्ति के हेतु (कवि-प्रतिभा), स्वरूप (विचित्र अभिधा), प्रभाव (सहृदयगत आह्लाद), अवस्थिति (काव्यबंध) और फल (चार पुरुषार्थों की प्राप्ति) रूप सर्वांगीण विचार करता है ; जबकि शैलीविज्ञान काव्य भाषा की संरचना का विश्लेषण करके शैलीगत तत्वों का निर्देश करता है और उनके बीच में निहित अंतःसंबंधों को स्पष्ट करता है । वक्रोक्ति विचार और शैली विज्ञान के बीच में मूलभूत अंतर यह है कि वक्रोक्ति-विचार, दर्शन, व्याकरण आदि को काव्यतत्त्व एवं काव्य-व्यापार की व्याख्या करने के लिये

काव्यशास्त्रीय स्वायत्त भूमिका से प्रयोजित करता है । इसीलिये वह दर्शन एवं व्याकरण के संप्रत्ययों को उनके मूलरूप में नहीं पकड़ता । उनको काव्यशास्त्र के संप्रत्ययों में रूपांतरित करता है । शैलीविज्ञान व्याकरण एवं भाषा विज्ञान के अभिगम पद्धति एवं उपकरणों को चुस्ती से पकड़ता है । इसीलिये वह व्याकरण एवं भाषाविज्ञान के अभिगम, पद्धति एवं उपकरणों का काव्यशास्त्र के अभिगम, पद्धति एवं उपकरणों में रूपांतरण सिद्ध करने में असमर्थ रहता है । इसीलिए वक्रोक्ति काव्यशास्त्र है, तो शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान और काव्य-विवेचन के सीमावर्ती प्रदेशों में प्रवर्तित स्वतंत्र विज्ञान है ।

वक्रोक्ति एवं शैली विज्ञान की काव्य भाषा के संप्रत्यय की तुलना भी रसप्रद है । कुंतक वक्रोक्ति को शास्त्रभाषा तथा लोकभाषा से व्यतिरेकी भाषा मानते हैं । क्रेसोट भी सोस्यूर-बेली कथित लेंग एवं पैरेल से साहित्यिक भाषा को भिन्न मानते हैं, विशेषतः साहित्यिक भाषा में चयन विशेष ऐच्छिक एवं सचेत होने से पैरेल के मुकाबले साहित्य-भाषा शैली विज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र है । कुंतक काव्य के शब्द की एकांतिक अर्थ-वाचकता को इसका शास्त्र एवं लोकभाषा के शब्द से व्यावर्त्तक लक्षण मानते हैं "**स शब्दः काव्ये यस्तत्समुचित-समस्त सामग्रीकः । कीदृक् विवक्षितार्थक वाचकः । विवक्षितो योऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तदेक वाचकः, तस्य एकः केवल एव वाचकः ।** " काव्य में शब्द वह है जो काव्य की समुचित सामग्री से युक्त है । कैसी सामग्री ? विवक्षित अर्थ का जो एकमेव वाचक हो । विवक्षित यानी कवि जैसे कहना चाहता हो इसका अद्वितीय वाचक, इसका केवल एकमेव वाचक ।

कुंतक वक्रोक्ति को विचित्र अभिधा कहते हैं । अभिधा में वक्रता के कारण ही वैचित्र्य उभरता है । यह वैचित्र्य अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को भी समाविष्ट करता है । शैलीविज्ञान मान्य भाषा विचलन और समान्तरता को समाहित करती अग्र प्रस्तुति के कारण ही मान्य भाषा को काव्य भाषा में रूपांतरित होती हुई मानता है । बेली भी विचलन में ही भाषा के affective (भावात्मक) और Expressive (अभिव्यंजक) तत्वों को समाविष्ट करते हैं । कुंतक शुष्क तर्क वाक्य या अलंकार शून्य वस्तुकथन को अलंकार नहीं मानते । आधुनिक

शैली वैज्ञानिकों ने भी वाक्यांगों के अतार्किक संबंध विधान को महत्व दिया है। इस तरह सरल उक्ति के मुकाबले विचलन युक्त उक्ति को वे काव्य की दृष्टि से अधिक महत्व देते हैं। कुंतक स्वभाव कथन मात्र को चमत्कार शून्य अभिधा मानकर स्वभावोक्ति अलंकार को अस्वीकार करते है। स्वभावोक्ति में अभिधा है। पर यह अभिधा जब तक अलंकार द्वारा वक्रता या वैचित्र्य धारण नहीं कर सकें, तब तक काव्योक्ति में रूपांतरित नहीं हो सकती। आधुनिक शैली वैज्ञानिक भी विचलन या समान्तरता से समन्वित उक्ति को ही अभ्यासोचित मानता है। इस तरह कुंतक और आधुनिक भाषावैज्ञानिक शास्त्र भाषा एवं लोकभाषा को अलंकार या अग्र-प्रस्तुति से काव्य भाषा में रूपांतरित करने पर जोर देते हैं। भामह ने भी व्याकरण शुद्ध नाम, क्रिया पद युक्त 'सौशब्द्य' मात्र से युक्त भाषा को काव्य भाषा नहीं माना है। कुंतक भी इसका समर्थन करते हैं।

कुंतक वक्रोक्ति की काव्यबंध में अवस्थिति को अनिवार्य घोषित करते हैं। काव्य बंध अर्थात् "बंधोवाक्य विन्यासः, तत्र व्यवस्थितौ" - इस तरह शब्दार्थ वाक्य-विन्यास में अवस्थित होने चाहिए। यह काव्य की अनिवार्य शर्त है। आधुनिक शैली विज्ञान भी वाक्य या डिसकोर्स (महावाक्य) के संदर्भ में ही वर्ण, पद, अर्थ, वाक्य-विन्यास का विश्लेषण करता है। आधुनिक भाषा विज्ञान का डिसकोर्स का सम्प्रत्यय कुंतक के महावाक्य के सम्प्रत्यय से मिलता जुलता है। कुंतक "मालती-माधव" के "असारं संसारम् " की वाक्य-संरचना के बारे में कहते हैं कि "एतस्मिन्श्लोके महाकाव्यकल्पे वाक्यान्तराण्यवान्तरवाक्यसदृशानि तस्याः सकललोकलोभनीयलावण्यसम्पत्प्रतिपादनपराणि परस्परस्पर्धीन्यतिरमणीयान्युपनिबद्धानि कमपि काव्यस्य छायातिशयं पुष्णन्ति।"

इस महावाक्य सदृश श्लोक में अवांतर वाक्य सदृश अन्य सर्वमान्य मालती की सकल लोक लोभनीय सौन्दर्य-सम्पत्ति का प्रतिपादन करते हुए एक दूसरे के साथ स्पर्धा करते हुए अत्यंत सुंदरता से ग्रथित होकर काव्य का अनिवार्य सौन्दर्य प्रकट करते हैं।

यहां महावाक्य की विभावना के सुस्पष्ट इंगित मिलते हैं, आधुनिक भाषा-विज्ञान में भी वाक्य में जैसे पद, वैसे परिच्छेद या कृति में

वाक्यों को, परस्पर ग्रथित मानते हैं । इसी से कृति-संदर्भ की रचना संभावित होती है । कुतंक वक्ता, प्रसंग, श्रोता, परिस्थिति आदि कृति संदर्भ को वक्रोक्ति के लिये अनिवार्य मानते हैं । आधुनिक भाषा-विज्ञान भी उगृक्त को कृति के संदर्भ में देखता है । कुंतक वक्रोक्ति - रचना के सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम-मार्ग की कल्पना करते हैं । यह कल्पना कवि-स्वभाव के साथ जुड़ी हुई है । कवि की सहज प्रतिभा एवं विदग्ध प्रतिभा इसके आधार हैं। आधुनिक भाषा विज्ञान शैली का कवि-स्वभाव के साथ अविनाभावि सम्बंध नहीं मानता । फिर भी शैली में कवि का व्यक्ति तत्व, शब्द-चयन , वाक्य-विन्यास आदि में किसी न किसी तरह प्रतिबिंबित तो जाता है । इस तथ्य की वह उपेक्षा नहीं करता ।

कुतंक वक्रोक्ति की विशद रचना के लिये प्रसाद गुण को अनिवार्य मानते हैं । प्रसाद गुण शब्दार्थ के कोषगत एवं व्याकरणगत अर्थ की समर्पकता है । इससे अभिधा में वक्रता सिद्ध करने की सुरेख भूमिका बनती है । आधुनिक भाषा-विज्ञान एवं संसर्जनात्मक (जेनरेटिव) व्याकरणअर्थ-व्यक्ति को महत्व देते हैं । इसमें विचलन से उत्पन्न विलंबन का भी पुरस्कार है । इससे वाक्य व्याकरणिक-वाक्य में निकलकर अर्धव्याकरणिक वाक्य में परिवर्तित हो सकता है । प्रसाद गुण की योजना भारतीय काव्य-शात्रियों ने आधुनिक व्याकरण शात्रियों के अव्याकरणीय वाक्य से उक्ति को बचाने के लिये की है । क्योंकि विचलन सिद्ध करने के लिए भी व्याकरण के कुछ कोड का पालन करना अनिवार्य हैं । कुंतक की वक्रता एवं आधुनिक शैली विज्ञान की अग्र-प्रस्तुति के बीच का साम्य भी रसप्रद है । वक्रता यानी' रमणीयता, अरुढ़ उक्ति । अग्र-प्रस्तुति यानी कृति के किसी घटक का उभरकर सामने आना । उक्ति और वक्रता के बीच में कुंतक अलंकार्य, अलंकार संबंध मानते हैं । मगर काव्य में वह अपृथक् एवं अविभाज्य रहते हैं । आधुनिक शैली विज्ञान भी लेंग, पैरेल एवं अग्र-प्रस्तुति के बीच में कुछ ऐसा ही सम्बन्ध मानता दिखाई पड़ता है । इसमें लेंग-पैरेल में अग्र-प्रस्तुति का सहेतुक निक्षेप होने से काव्य-भाषा की रचना होती है, ऐसी धारणा है । काव्य-भाषा में भी लेंग-पैरेल और अग्र-प्रस्तुति अपृथक् एवं अविभाज्य रूपेण रहते हैं ।

फिर भी शैली-विज्ञान इसको विश्लेषणात्मक अभिगम से जांचता है । वक्रता वर्ण-पुनरावर्तन , शब्द-चयन, अर्थान्तरण द्वारा उक्ति में अपनी मुद्रा अंकित करके कृति के मर्म को उद्घाटित करती है । नाम की वक्रता, उपसर्ग, निपात की वक्रता एवं विशेषणों के विशिष्ट प्रयोग से उत्पन्न वक्रता का विचार कुंतक ने किया है । आधुनिक शैली विज्ञान में परस्पर विरुद्ध अर्थवाले शब्दों का संयोजन, (Oxymorn), (Jautology), समानार्थक शब्दों का अनावश्यक प्रयोग, Paradox, contradiction., अनावश्यक शब्दाडंबर, (Periphrasis) के माध्यम से अर्थ-रचना की रीतियों के संदर्भ में इसका विचार हुआ है ।

वक्रता-साधक तत्वों में वस्तु का उत्कर्ष बताने वाली उक्ति यों के रूप में व्याजोक्ति, अत्युक्ति, हीनोपमा, व्यतिरेक, प्रतीक जैसे अलंकार प्रयुक्त होते हैं। यहां वाक्यार्थघटना में काकु का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण होता है । आधुनिक शैली विज्ञान भी अत्युक्ति (Hyperbole), व्यंग्योक्ति (Litotes), Irony, हीनोक्ति (Innuendo), प्राश्नितापूर्ण प्रश्न (Rhytorical question) आदि के संदर्भ में इसका विस्तार करता है । इसमें भी Tone वाक्यार्थ के प्रकटीकरण में महत्त्व की भूमिका अदा करता है । संस्कृत भाषा में पदों के साथ लगे हुए प्रत्यय वाक्य के अन्य पदों से संबंध निर्मित करते हैं । इसलिये पद-क्रम भंग से उत्पन्न वक्रता की चर्चा कुंतक नहीं करते हैं । मगर पद-क्रम की अति नियमितता के द्वारा निर्मित-वक्रता यथासंख्य जैसे वाक्यार्थ-मूलक अलंकारों में देखी जा सकती है । कुंतक ने वाक्य-वक्रता में विविध अलंकारों से निर्मित उक्ति- वैचित्र्य को समाविष्ट कर दिया है ।

कुन्तक वक्रता का विचार-प्रकरण एवं प्रबंध के संदर्भ में भी करते हैं । प्रकरण-वक्रता में कोई विशेष प्रसंग का उत्कर्ष शोभा उत्पन्न करता है । इसमें अग्र-प्रस्तुति के लक्षण देखे जा सकते हैं । इसमें प्रकरण के बीच उपकारक प्रभाव में उचित विन्यास, तो ख्यात वस्तु के अंश के शोधन में विचलन, एक ही अर्थ (अवस्था-प्रसंग) की संदर्भोचित योजना में समान्तरता और वस्तु के संधियों में विभाजन में devidaion (विभाजीकरण) के लक्षण दिखाई देते हैं । इसी तरह प्रबंध वक्रता में मूल-कथा के रस-परिवर्तन में विचलन, नवीन गौण- प्रसंग की कल्पना में विपथन तथा एक ही कथानक पर आश्रित प्रबंधों की

रचना में सहेतुक समान्तरता देखी जा सकती है । प्रधान कथा के द्योतक नामकरण में उदग्रता (Prominance) या अग्र-प्रस्तुति का लक्ष्य दिखाई पड़ता है । इसी तरह काव्य-भाषा में वक्रता युक्त शब्द एवं सामान्य शब्द का Keyword (उन्मीलक शब्द) और Theme Word (प्रतिपाद्य शब्द) के रूप में भी विचार किया जा सकता है । इसी तरह शैली में संदर्भगत क्रियाशील घटकों एवं अक्रिया शील घटक क्रमशः वक्र वर्ण, शब्द, वाक्य एवं सामान्य वर्ण शब्द, वाक्य के रूप में देखे जा सकते हैं । एन्कवीस्ट, प्रकल्पित शैलीचिन्हों और काव्य में प्रयोजित भिन्न-भिन्न वक्रताओं की भी तुलना की जा सकती है । क्योंकि शैली चिह्न ऐसे भाषाघटक हैं जो कृतिसंदर्भ से जुड़े होते हैं । जबकि सामान्य भाषा घटक कृतिसंदर्भ से जुड़े नहीं होते । शैली चिन्ह सक्रिय होते हैं, तो सामान्य भाषाघटक न्यूट्रल (तटस्थ) होते हैं । इससे शैली परक पसंदगी एवं अशैलीपरक पसंदगी के बीच भेद किया जा सकता है । कृति में वक्रोक्ति मूलक घटकों एवं सामान्य घटकों का विश्लेषण इस तरह से किया जा सकता है जिससे कृति की अर्थसमृद्धि का मापन भी शायद संभव है । अलबत्ता, आधुनिक शैलीविज्ञान इसके विश्लेषण एवं पैटर्न तक ही सीमित, रह जाता है, जबकि वक्रोक्ति विचार इसका विश्लेषण पैटर्न, काव्यसौंदर्य में इसका योगदान एवं सहृदय के आह्लाद को भी समाविष्ट करता है । इस तरह आधुनिक शैली विज्ञान एवं वक्रोक्ति विचार में अभिगम, कार्यक्षेत्र उपकरण, प्रयोजन के बारे में कुछ अंतर है । फिर भी इन दोनों के बीच में एक साम्य है और वह यह रहस्य प्रकट करता है कि देश, काल, भाषा एवं अभिगम भिन्न होते हुए भी काव्य की बहुत सी मूलभूत विभावनाओं के बहुत से बिन्दु कहीं न कहीं संयुत हो ही जाते हैं । और ये ही सब भाषा साहित्य के मूल में निहित एक Universal Poetics के सामान्य कोड की ओर संकेत करते हैं । शैलीविज्ञान की परिभाषा में जो काव्य शास्त्र का लेंग रूप है और उससे किसी एक भाषा का पैरेल रूप काव्यशास्त्र उद्भावित होता है ।

6

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दार्थ-विचार

डॉ. आनन्द कुमार श्रीवास्तव

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र से तात्पर्य पण्डितराजोत्तर संस्कृत काव्यशास्त्र से है। जिस प्रकार भरतमुनि से लेकर पण्डित राज जगन्नाथ तक संस्कृत काव्यशास्त्र की अविच्छिन्न परम्परा दिखायी देती है उसी प्रकार पण्डित राज के पश्चात् भी प्रायः सम्पूर्ण देश में लगभग दो सौ आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय मौलिक ग्रन्थों अथवा टीका ग्रन्थों की रचना की, किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में पण्डितराज जगन्नाथ को अन्तिम मूर्धन्य आचार्य स्वीकार कर लिये जाने के कारण उत्तरवर्त्ती काव्यशास्त्र का समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ। और वह अद्यावधि अपरिचय के घनान्धकार से आच्छादित है।

वस्तुतः आधुनिककालीन प्रायः सभी आचार्य पूर्ववर्ती आचार्यों की तुलना में अल्पप्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध ही प्रतीत होते हैं किन्तु कुछ आचार्य जैसे विश्वेश्वर पण्डित, अच्युतराय, मोडक, आशाधर भट्ट, नरसिंह कवि, अभिनव कालिदास, राज चूडामणि दीक्षित, भट्ट देव शङ्कर 'पुरोहित', हरिदास सिद्धान्तवागीश, श्रीकृष्ण कवि, नागेश भट्ट, रेवा प्रसाद द्विवेदी, ब्रह्मानन्द शर्मा आदि आधुनिक युग के सम्मान्य प्रतिनिधिभूत आचार्य हैं। इन आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

जहां तक संस्कृत काव्यशास्त्र में भाषाविषयक चिन्तन का प्रश्न है, यह विषय सर्वप्रथम व्याकरण की परिधि में ही आता है किन्तु वहां उसका क्षेत्र सीमित है और प्रायः शब्द के साधुत्व-असाधुत्व पर ही वैयाकरणों की दृष्टि होती है। उसके आगे वैयाकरणों ने विचार किया भी तो उनका ध्यान मात्र शब्द और उसके प्राथमिक अर्थ पर ही केन्द्रित रहा और उसी को लक्ष्य कर शब्द-शक्ति इत्यादि की कल्पना की गयी। व्याकरण शास्त्र के अतिरिक्त न्याय, मीमांसा एवं बौद्ध दर्शनों में भी शब्दार्थ सम्बन्धी चिन्तन हुआ किन्तु इसका जैसा

विस्तार एवं स्वरूप प्रतिपादन काव्यशास्त्र में हुआ वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता ।

शब्दार्थ-विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र का अभिन्न अङ्ग है । प्रायः काव्यशास्त्र परम्परा में शब्द-अर्थ पर गम्भीरतापूर्वक एवं सविस्तार विचार किया गया है । वस्तुतः काव्य की समीक्षा करने वाले शास्त्र में शब्द-अर्थ पर सम्यक् विचार करना उपादेय एवं उचित भी है क्योंकि काव्य तो शब्दार्थरूप ही होता है । अतएव काव्यार्थज्ञान के लिये शब्दार्थ-विचार अत्यावश्यक है, क्योंकि शब्दार्थ-स्वरूप, शब्दार्थ-भेद, एवं शाब्दबोध प्रक्रिया के ज्ञान के अभाव में काव्यानन्द की प्राप्ति असम्भव है ।

अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने भी उपर्युक्त परम्परा का निर्वाह किया है । कुछेक आचार्य अन्य काव्यशास्त्रीय तत्वों के साथ-साथ शब्दार्थ पर भी विचार करते हैं तो कुछ आचार्य एतद्विषयक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना करते हैं । इस सन्दर्भ में मौनी श्रीकृष्ण भट्ट (१७ वीं शताब्दी) रचित वृत्तिदीपिका तथा आशाधर भट्ट (१८ वीं शताब्दी) रचित **कोविदानन्द** एवं त्रिवेणिका उल्लेखनीय है । जिनमें त्रिबिध शब्द, अर्थ एवं वृत्ति का स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया गया है । गोकुल नाथ उपाध्याय (१७ वीं शती) ने भी शब्द-शक्ति विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ **रसमहार्णव** की रचना की किन्तु उसमें मात्र लक्षणा वृत्ति का ही विवेचन है । इनके अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में शब्दार्थ-विवेचन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है ।

भारतीय आस्तिक दर्शन में शब्द को प्रमाण (प्रमाकरण) माना गया है । आचार्य आशाधर भट्ट ने प्रमाकरण रूप में शब्द की तुलना शत्रुनाश क्रिया करणरूप बाण से की है । जिस प्रकार बाणादि शत्रुनाशकक्रिया के प्रति करण होते हैं और सदा व्यापार से युक्त होते हैं उसी प्रकार शब्द भी प्रमा का करण है और अपने अर्थ को प्रकट करने के कारण व्यापार युक्त होता है । जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्य पर ही गिरते हैं उसी प्रकार शास्त्रादि संकेतों से युक्त होकर शब्द भी तत्काल अर्थ (लक्ष्य) का बोध कराते हैं । जिस प्रकार बाण में व्यापार के अतिरिक्त भेदन-योग्यता होती है उसी प्रकार शब्द में भी वाच्यार्थ के बोधन की योग्यता कराने वाला संकेत होता है जो व्यापार से भिन्न होता है ।

जिस प्रकार सम्मुख स्थित लक्ष्यों के भेदन में ही बाण समर्थ होते हैं उसी प्रकार ज्ञात शब्दार्थ ही अर्थ-बोधन में समर्थ होते हैं।[१]

शाब्दबोधप्रक्रिया में संकेत-ज्ञान अपरिहार्य तत्व है। यह संकेत शब्द में रहता है और इसका ज्ञान होने पर ही शब्द द्वारा अर्थ का बोध होता है। संकेत ही अर्थविषयक पुरुष के अज्ञान को दूरकर उसमें ज्ञातृत्व उत्पन्न करता है। पूर्वाचार्यों की भाँति आधुनिकयुगीन आचार्यों में भी संकेत के स्वरूप के विषय में मतभेद है। कुछ आचार्य ईश्वरेच्छा को संकेत मानते हैं तो कुछ आचार्य आप्ताभिप्राय को। भूदेव शुक्ल (१७ वीं शती) एवं मौनीश्रीकृष्ण भट्ट ईश्वरेच्छा को संकेत स्वीकार करते हैं [२] जबकि आशाधर भट्ट, राज चूडामणि दीक्षित, (१७ वीं. शती) प्रभृति आचार्य आप्ताभिप्राय को संकेत स्वीकार करते हैं।[३] राज चूडामणि दीक्षित का मत है कि मात्र ईश्वर के अभिप्राय को ही संकेत माना जायेगा, तो यदृच्छा शब्दों में अव्याप्ति हो जायेगी।

आशाधर भट्ट के अनुसार संकेत दो प्रकार का होता है-ईश्वरकृत और सुधीकृत। साधु (यौगिक) शब्दों में ईश्वरकृत सकेत होता है जिसका बोध शास्त्र के द्वारा हुआ करता है, और असाधु (रुढ़ि) शब्दों में सुधीकृत संकेत रहता है जिसका बोध व्यवहारादि से होता है।[४] आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी संकेत को शब्द-ज्ञान और अर्थ-ज्ञान के बीच रहने वाली ग्रन्थि मानते हैं। जो ज्ञान-मात्र में रहती है, शब्दार्थ - शरीर में नहीं।[५] उनका मत है कि शब्द में कोई शक्ति नहीं शक्ति तो ज्ञान में है। इस प्रकार अभिधा शक्ति का आश्रय शब्दार्थ-ज्ञान है। लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्य शक्तियों का आश्रय भी वाक्य-विन्यास का ज्ञान है। वस्तुतः चारों शब्द शक्तियां ज्ञानात्मक हैं, शब्दात्मक नहीं। इसीलिये शब्दशक्ति के स्थान पर ज्ञान-शक्ति पद का प्रयोग अधिक उचित है।

आचार्य द्विवेदी का मत है कि यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि शब्द अपनी शक्ति के द्वारा अर्थ-ज्ञान उत्पन्न करता है तो कारण-सिद्धांत (कारण अपने ही अधिकरण में कार्य उत्पन्न करता है) का विरोध होता है। शब्द तो आकाश में रहता है और ज्ञान आत्मा (अथवा चित्त) में। अधिकरण भिन्न है। शब्द से अर्थ-शरीर उत्पन्न नहीं होता अपितु अर्थ-ज्ञान मात्र उत्पन्न होता है। शब्द-शरीर के साथ अर्थ-ज्ञान

का कार्यकारणभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता । अतः शब्दज्ञान के साथ अर्थज्ञान का कार्यकारणभाव होना चाहिये । इस प्रकार शब्दज्ञान ही शब्द-शक्ति का अधिकरण है । शब्द की उपस्थिति मात्र से अर्थ-ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, जब तक कि शब्द ज्ञान न हो । अतः शब्दज्ञान में शक्ति रहती है , शब्द -शरीर में नहीं ज्ञान तो अर्थ होता है इसलिये शक्ति अर्थनिष्ठ ही है ।[६]

पूर्व आचार्य सङ्केतग्रह के प्रायः आठ उपाय स्वीकार करते हैं - व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति (व्याख्या) और सिद्ध पद (ज्ञातपद) की सन्निधि । किन्तु आशाधर भट्ट ने इनके अतिरित निरुक्त नामक नवां सङ्केतग्राहक स्वीकार किया है ।[७] प्राचीन आचार्यों ने निरुक्त को आप्तवाक्य (मुनिवाक्) मानकर उसकी पृथक् गणना नहीं की है। आचार्य ने निरुक्त के उदाहरण के रूप में 'उमा ' पद उद्धृत किया है । निर्वाचन के अनुसार 'उ' शब्द सम्बोधनार्थक है और 'मा' शब्द निषेधार्थक है । चूंकि मेनका ने सम्बोधनपूर्वक उसे तप करने के लिये मना किया था इसलिये उसका नाम 'उमा' पड़ा ।

प्राचीन आचार्यों की भांति अर्वाचीन आचार्य भी शब्द के तीन भेद-वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तथा अर्थ के तीन भेद-वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य स्वीकार करते हैं । तथा इन तीनों के स्वरूप के सम्बन्ध में भी वे प्राच्य आचार्यों से पूर्णतः सहमत दिखायी देते हैं । आशाधर भट्ट वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य को क्रमशः चारु, चारुतर और चारुतम कहते हैं ।[९] उनका कहना है कि इनका प्रयोग क्रमशः सरल व्यक्ति, चतुर व्यक्ति तथा नर्म वचनों के मर्मज्ञ कवि एवं सहृदय किया करते हैं ।[१०] अच्युत राय ने शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना की उपमा क्रमशः मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा से दी है ।[११] आशाधर भट्ट इनकी उपमा गंगा, यमुना और सरस्वती से देते हैं ।[१२] जिस प्रकार विशुद्ध निर्मल गङ्गा में यमुना एवं सरस्वती मिलती हैं अर्थात् गङ्गा दोनों का आश्रय हैं उसी प्रकार अभिधा वृत्ति लक्षणा व व्यञ्जना का आश्रय है । जिस प्रकार यमुना नील जलवाली एवं गंगाश्रित है उसी प्रकार विलम्ब से अर्थप्रतीति कराने के कारण लक्षणा मलिना है । जिस प्रकार संगम में सरस्वती अत्यन्त गूढ हैं और योगियों के अतिरिक्त अन्यों के द्वारा

दर्शनीय नहीं है । किन्तु शास्त्रप्रमाण से उसके विषय में कोई सन्देह नहीं है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी अत्यन्त रहस्यभूत है । और सहृदयों के द्वारा ही प्रतीतियोग्य है तथा उसके विषय में आलंकारिकों में थोड़ा भी सन्देह नहीं है ।

नरसिहं कवि (१८ वीं शती) वाचक शब्द के दो भेद करते हैं- रूढ़ और योग ।[१३] राज चूडामणि दीक्षित, आशाधर भट्ट, अच्युत राय (१९वी. शती) एवं छज्जू रामशास्त्री 'विद्यासागर (२० वीं.शती) प्रभृति आचार्य इन दो भेदों के अतिरिक्त योगरुढ़ नामक तीसरा भेद भी स्वीकार करते हैं । श्रीकृष्ण शर्मन् (१९वी.शती) एवं विश्वेश्वर पण्डित (१८ वीं. शती) प्रभृति आचार्य यौगिकरूढिक नामक चौथे भेद की ओर भी संकेत करते हैं ।

मौनी श्रीकृष्ण भट्ट पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदत्त रुढ पद का उदाहरण 'गो' को उपयुक्त नहीं मानते । उनका कहना है कि **'गच्छति इति गौः'** यह व्युत्पत्ति सम्भव होने के कारण केवल रूढ का अभाव होने से **'गमनक र्तृत्व विशिष्ट गोत्व'** में शक्ति है, यह माना जा सकता है ।[१४] इसी प्रकार आशधर भट्ट लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरण **'गङ्गायां घोषः'** को 'घोष' शब्द के अनेकार्थक होने के कारण सन्दिग्ध उदाहरण मानते हैं ।[१५] उनके अनुसार लक्षणा का स्पष्ट उदाहरण **'ओङ्कारलिङ्ग रेवायाम्'** है । रेवा नदी अर्थात् जलप्रवाह में ज्योतिर्लिङ्ग की स्थापना सम्भव नहीं है अतः जलप्रवाहरूप मुख्यार्थ का बाध हो जाता है । प्रवाह एवं तट में संयोग सम्बन्ध होने के कारण रेवा पद से तट अर्थ की प्रतीति होगी ।

व्यञ्जक शब्द तथा व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध में अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में कोई नयी उद्भावना दृष्टिगत नहीं होती । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दार्थविषयक चिन्तन में मौलिकता का सर्वथा अभाव-सा है । फिर भी आचार्यों की प्रस्तुति एवं शब्दावली मूलतः भिन्न है और आचार्यों ने शब्द-अर्थ के पारम्परिक उदाहरण न देकर नये उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

पाद टिप्पणी

१. प्रमाणत्वेन शब्दानां करणत्वं शरादिवत् ।
तेन व्यापारयुक्तत्वं नियतं स्वार्थसाधने ।।
शास्त्रादेर्ज्ञातसंकेता लक्ष्यलक्षाः शरा इव ।
सद्योऽर्थकारिणः शब्दास्तेन तस्यापि हेतुता ।।
व्यापारादतिरिक्तोऽयं संकेतो वाच्यगोचरः ।
योग्यताजनको बाणे लक्ष्यसम्मुखता यथा ।।
ज्ञातस्यैवोपयोगित्वमर्थे तस्यान्यथा तु न ।
लक्ष्येऽवधारितस्यैव सम्मुखत्वस्य भेदने ।।
कोविदानन्द, पृ. २.३

२. शक्तिश्चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारिका ईश्वरेच्छा समयसंकेतपदाभिधेया । रसविलास, पृ.८१
संकेतश्च एतत्पदजन्यत्वप्रकारतानिरूपितैतदर्थबोधविशेष्यताशालीश्वरेच्छा । वृत्तिदीपिका, पृ. १

३. अयमर्थ इतश्शब्दाद्वेद्य इच्छेदृशी तु या ।
प्रवर्त्तकोपदिष्टा सा संकेत इति भण्यते ।। कोविदानन्द, पृ. ५
संकेतश्च 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोध्य' इत्याकारक आप्ताभिप्रायो न त्वीश्वराभिप्रायमात्रम्, यदृच्छाशब्दास्याप्यग्रे संग्राह्यत्वकथनेन तत्राव्याप्तेः । काव्यदर्पण, पृ. ३३

४. स ईश्वरकृतः साधौ शब्दे शास्त्रं तु शास्ति तम् ।
असाधौ व्यवहारादेः संवेद्यः स सुधीकृतः ।।
कोविदानन्द, पृ. ५

५. संकेतश्चायमेव यदुत शब्दाज्ञानार्थज्ञानयोर्मिथो ग्रन्थिबन्धः संविन्मात्रनिष्ठः । काव्यालङ्कारकारिका, पृ. १७४

६. शब्दोऽर्थज्ञानसूः शक्तया यदि तत्र निरीक्ष्यताम् ।
सामानाधिकरण्यं किं वर्तते हेतुकार्ययोः ।।
एवं शब्दस्य यज्ज्ञानं शुभा तत्रैव शक्तता ।
ततश्च ज्ञाननिष्ठायाः शक्तेः शब्दनिष्ठता कवितामात्रमेवेति यत्किञ्चिदेव, न तु हृदयङ्गमनीयम् । ज्ञानं चार्थ इति शक्तय इमा अर्थनिष्ठत्वेनैवाभ्युपेयाः । काव्यालङ्कारकारि, पृ. १६८, १७०, १७४

७. सङ्केतग्रहणे हेतून् शृणूदाहरणैः सह ।
प्रायो व्याकरणं कोशो निरुक्तं मुनिवागपि ।।
व्याख्यानं वाक्यशेषश्च प्रसिद्धार्थस्य सन्निधिः ।
उपमानप्रमाणं च व्यवहारश्च तद्विदाम् ।।
कोविदानन्द, पृ. ६

८. उमाशब्दे उशब्दस्य सम्बोधनार्थकस्य मा शब्दस्य निषेधार्थस्य च संयोगे व्युत्पत्यभावेऽपि 'अक्षरसाम्यान्निर्वचनं ब्रूयात्' इति निरुक्तवचनम्। तथा च कुमारसम्भवे-उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम । कोविदानन्द, पृ. ७

९. काव्यादिषु शब्दजन्यमर्थज्ञानं त्रिविधं - चारु, चारुतरं चारुतमं चेति। तत्र शक्तिजन्यं चारु। लक्षणाजन्यं चारुतरम्। व्यञ्जनाजन्यं चारुतमम् । त्रिवेणिका, पृ. २

१०. शक्तिं भजन्ति सरलाः लक्षणां चतुरा नराः ।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञा कवयः कमना जनाः ।।
त्रिवेणिका, पृ. २४

११. त्रिधा वृत्तिभिदा शक्ति लक्षणाव्यञ्जनाह्वया ।
मुग्धमध्यप्रगल्भाख्यावस्था स्त्रीव भातिवाक् ।।
साहित्यसार, पृ. २३

१२. शक्ति भक्ति व्यक्ति गंगायमुनागूढ़निर्झराः ।
प्रवाहवत्यः सन्त्य यत्तत्रषा त्रिवेणिका ।।
त्रिवेणिका, पृ. १

१३. सा द्विविधा रुढ़िपूर्विका योगपूर्विका चेति ।
नञ्जराजयशोभूषण, पृ. १४

१४. तत्रापि, 'गच्छतीति गौरिति' व्युत्पत्तिसम्भवेन केवलरूढत्वाभावात्, गमनकर्तृत्वविशिष्टे गोत्वे शक्ति रिति वक्तुं शक्यत्वात् ।
वृत्तिदीपिका, पृ. ७

१५. अत्र गङ्गायां घोष इति प्रसिद्धोदाहरणं तून्नेयं प्रत्यक्षत्वाद् घोषशब्दस्यानेकार्थत्वाच्च सन्दिग्धम्, इदं तु स्पष्टमिति बोध्यम् ।
कोविदानन्द, पृ. २९

7

VAKROKTI AND STYLISTIC DEVIANCE

R. S. PATHAK

I

A considerable amount of attention has been paid in recent decade to the language of poetry. Poetic language is the most conscious use of language and has rightly been called the 'language at full stretch.'[1] According to Paul Valery, it is nothing less than 'an art of language.'[2]

Stylistics, which has been defined as "the study of literary discourse from a linguistic orientation,"[3] has added certain new dimensions to the study of the language of poetry. A study of Sanskrit poetics from Bharata to Paṇḍitarāja Jagannātha well bear witness to the existence of sufficiently well-developed theoretical stylistics in India with a rigours scientific method for description and analysis of the expressive resources of language. It may be remembered at the outset that Indian aestheticians never separated linguistics from poetics and that from the very beginning they took due cognizance of linguistic aspects of a literary composition. It cannot be maintained that these theorists have said the last word on the subject or have said it always clearly or consistently, but they have certainly dealt with some of the fundamental aspects very ably.

Of some six approaches to style mentioned by Enkvist et al.,[4] the style-as-deviation approach has been probably most popularly held. Style has been conceived of by the adherents of this approach as a conscious departure from the ordinary norms of well-formedness, which involves the disruption of some regularity of pattern. Geoffrey Leech has described deviation as "a disruption of the normal process of communication" by leaving "a gap" in one's understanding of text.[5] It may involve omission or suspension of rules of grammar, changes in their applicability, alterations in the structural changes indicated by them, and reordering

or addition of new rules. Deviations can occur at all levels of linguistic organization - lexix, grammer, phonology/graphology, dialect, register and sementics. S.R. Levin rightly maintains that "most, if not indeed all, of poetry's characteristic devices exemplify deviation in one way or another."[6]

That the ancient Indian aestheticians had their own distinctive concept of poetic language is evident from their theory of *vakrokti* (Oblique Speech or deviant utterance). In fact, the whole field of Sanskrit poetics may be regarded as one continued attempt to unravel the mystery of beauty in poetic language. Western scholars like Cassirer, Mukarovsky and Northrop Frye have viewed literature as language and have tried to spell out distinctions between the language of literature and that of science and philosophy. The Indian theory of *vakrokti*, though far more comprehensive, did precisely the same centuries ago. S.K.De has rightly drawn attention to the 'verbal and formal character' of Kuntaka's poetical deliberations.[7] Krishna Chaitanya also feels that Kuntaka has "formulated a significant theory of poetic expression" and that he has attacked the problem of diction and the poetry of tension" with a rare intuition."[8] The theory of *vakrokti*, which has acquired a particular significance in the context of the New Criticism and Stylistics, can be profitably studied in relation to the stylistic concept of deviance.

II

The Indian theory of *vakrokti* shows a remarkable divergence of views spelt out by scholars like Bhāmaha, Daṇḍin, Vāmana, Kuntaka, Abhinavagupta and Bhoja on the one hand and Rudraṭa, Mammaṭa and their followers on the other. *Vakrokti*, in its wider sense, consists of a certain strikingness of expression. V. Raghavan defines it as a 'striking, deviating expression.'[9] It would be a monstrosity, says Kuppuswami Shastri, to translate the term *vakrokti* as 'eccentric expression.' "In a simple way," he adds, "It may be understood as deviation in expression from the common place. The deviation may be due to various causes, but when the deviation is effective, it is termed *vakrokti*."[10]

The detailed treatment of *vakrokti* is found in the works of Bhāmaha, Daṇḍin, Kuntaka and Bhoja. But, as Raghavan points out, "the concept of *vakrokti* must be older than Bhāmaha and Daṇḍin, for we find it used with settled connotation in the works of both (these) writers."[11] Some scholars like K.C. Pandey and K. Krishnamoorthy think that the earliest traces of the theory of *vakrokti* can be found in Bharata's treatment of *lakṣaṇas* in his *Nāṭyaśāstra*.[12]

Bhāmaha is, however, the first to assign a prominent place to *vakrokti*. While mentioning various forms of literature, he refers to it as a distinguishing trait of poetic expression. It transgresses, he holds, all mundane experience (*lokātikrāntagocaram*) (II.81) and is desirable for adorning poetic speech (I.36,V.66). In his discussion of the figure *atiśayokti*, to which he identifies *vakrokti*, Bhāmaha maintains that it underlies all figures of speech, imparting beauty to them, and that there can be no figure for want of it :

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

Daṇḍin also considers *atiśayokti* the best of figures, for it originates from the poet's desire to describe a peculiar trait in a manner which transcends the bounds of commonality :

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।

It is Kuntaka who has considered *vakrokti* in an exhaustive way. In the very beginning of his *Vakroktijīvita* he says that his object in writing a fresh treatise on poetics is "to establish the idea of strikingness which causes extraordinary charm in poetry" (I.3). He maintains that it is a certain charming deviation from the ordinary mode of expression of ideas that constitutes the soul of poetry. He conceives of *vakrokti* as a striking mode of expression depending on the peculiar turn given to it by the skill of the poet (*vaidagdhyabhaṅgībhaṇiti*).[13]

Kuntaka cannot think of poetry as bereft of embellishment resulting in strikingness (*sālaṅkārasya kāvyatā*).[14] *Vaicitrya* in poetic speech, he says, can impart an excellent charm even to an object which is stale and tasteless (*yad=*

apyanūtanollekham).[15] *Vakrokti*, according to Kuntaka, is the *sine qua non* of poetry : *Vakroktiḥ kāvyajīvitam*, he forcefully maintains. It would, however, be incorrect to accept Kuntaka as a formalist in a cut-and-dry sense of the term. According to him, both inadequate expression and expression devoid of substantial idea are of no use. He would call a beautiful expression without a beautiful idea 'dead' (*mṛtakalpa*) and a beautiful idea not couched in an equally beautiful expression 'diseased' (*vyādhibhūta*).[16]

Kuntaka has made certain very significant remarks on the language of poetry. It is, says he, different from the current mode of speech *atikrāntaprasiddhaprasthānasaraṇiḥ*) as well as the established manner of expression which we find in various sciences and scriptures (*śāstrādi-prasiddhaśabdārthopanibandhavyatirekī*).[17] Kuntaka's differentiation betweeen the matter-of-fact manner of expression and the striking, deviating mode of poetry may be compared to Weinreich's distinction between what he calls the 'desemanticized' or low-voltage language of conventional usage and the 'hypersemanticized' or high-voltage language of poetry.

A reference may also be made at this point to the views of Abhinavagupta and Bhoja. Abhinava, as Sankaran points out, was "distinctly aware of the concept of *vakratva*" enunciated by Bhāmaha and Kuntaka.[18] Abhinava equates *vakrokti* with a consummate composition and regards it as the generic quality inhering all figures of speech. It implies, according to him, a heightened form of expression which distinguishes poetic speech from matter-of-fact speech of everyday life.[19] Bhoja also defines poetry in terms of *vakrokti* :

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृति ।।

He designates poetry as an extraordinary, rounded expression (*viśiṣṭā bhaṇiti*). Although Kuntaka's theory of poetry did not receive any real recognition at the hands of his successors, his basic idea regarding strikingness of poetic expression kept on appearing in various forms.

III

The idea that deviation is a distinguishing mark of poetry had been established in Western criticism as early as Aristotle's *Poetics.*(XXII). He remarked : "For by deviating in exceptional cases from the normal idiom, the language will gain distinction ... The critics, therefore, are in error who censure these licences of speech". The role of deviations in poetry has been discussed in stylistics in considerable detail. As Stankiewicz puts it, poetry represents the unique 'realm of individual creativity' which necessitates 'violence of language.'[20] Roman Jacobson aptly calls it "an organized act of violence perpetrated on ordinary language."[21] Deviation from the established mode of expression is one of many resources that the poet finds helpful in facing his exceptional challenge. Deviation, as Leech suggests, performs a central role in the linguistic organization of poetry, and to analyse the significance and scope of poetic creativity we have to assess the communicative import of deviance in poetry.[22]

Whether it assumes the shape of a morphological extravagence or of an unusual collocational clash, a deviant form invariably constitutes an unaccustomed extension of the range of choices and produces surprising excesses by frustrating expectation. Levin describes two types of deviation - internal and external.[23] In another paper he talks of determinate and statistical deviations.[24] There can be certain other parameters for consideration of deviation in poetry. For instance, corresponding to the two axes of selection and combination on which poetic function operates,[25] we get syntagmatic and paradigmatic deviations in poetry. In a syntagmatic deviation, it is the word-order that is violated, whereas in a paradigmatic deviation we get the category of a word violated.

The language of poetry, according to this approach, is distinguished from other forms of language chiefly on account of the frequency and the importance of the devient features it contains. To all intents and purposes, the typical deviation in literary language resembles linguistic 'errors' and slips of the tongue. In poetry we come across not only deviations, i.e. ungrammatical forms, but also what Mc-

Intosh calls 'deflections' - departures from some expected pattern of frequency. "Tremendous things can be wrought," writes McIntosh, "in tiny stretches of text by some powerful new juxtaposition of words or by some old juxtaposition used in a new way."[26] 'Foregrounding' is yet another feature which contributes towards differentiation of the language of poetry. Mukarovsky is of the view that it is the intentional, systematic violation of the norm of the standard language that "makes possible the poetic utilization of language; without this possibility there would be no poetry."[27]

In analysing deviations, the Chomskyan notion of 'degress of grammaticalness' may prove helpful. A useful distinction can also be made, following McCawley's suggestion, between utterances that are ungrammatical (i.e. syntactically deviant) and those that are semantically ill-formed (i.e. anomalous). Chomsky has mentioned in *Aspects of the Theory of Syntax* two kinds of rules - 'strict subcategorization rules' and 'selection rules'. The selection rules play a rather marginal role in a language and, as Chomsky himself suggests, can be violated in some contexts without resulting in semantic anomaly. Sentences like *Colourless green ideas sleep furiously*[28] may be permissible in poetry. In good poetry deviant features are essentially features of the 'deep' structure.

IV

Deviation is thus the *raison d'etre* of the language of poetry and some form of nonliteralness or obliqueness is its most essential feature. Viewed together the two concepts, i.e. *vakrokti* and deviance, attain greater relevance for analysis of poetic language. The concept of deviance suffers from certain inherent weaknesses, some of which are mentioned below. The theory of *vakrokti* is far more comprehensive and its six types subsume all kinds of deviations right from that of the letter to that of the composition as a whole.

Deviance has often been considered to be the sum of non-grammaticality and nonacceptability and has been as a blanket term covering two potentially different factors. In its present unspecific state it would mean different things

to different persons. The depth of deviance is not the only factor affecting the meaningfulness or acceptability of a sentence. The whole question of deviance hinges on the notion of a 'norm'. No precise boundry can be established between what is normal and what is deviant. Moreover, deviance is primarily an attribute of form of poetry and attaches to meaning only secondarily. In the absence of a full-fledged theory of style and a concomitant stylistic methodology, the analysis of poetic language grounded on the concept of deviance alone is likely to produce lopsided results.

The anomaly perceived in the concept of deviance can be warded off if we bear in mind Kuntaka's reiterated emphasis on poetic activity, which De explains as "the organic expressive activity of the poetic intuition".[29] The obliqueness born of poetic activity and dependent upon the poet's temperament will be invariably pleasing (*tadvid-āhlādakāri*) and will never give sanction to eccentric or outrageous writings like some extreme examples of modern poetry. A poet, says Aarts, "should have a good reason for being ungrammatical, and his grammatical deviations should serve to highlight those points which are central in the meaning of the poem."[30] A deviant expression in the hands of a competant poet is made to serve an integral function in a composition. It considerably helps him unfold his vision, and, as Warburg maintains, "the peculiar mode of saying constitutes, in fact, a peculiar mode of apprehension."[31] No one knew this fact better than the adherents of the Indian theory of *vakrokti*. By basing their theoretical edifice on the firm foundation of poetic activity, they have given more plausible account of the linguistic creativity in poetry.

REFERENCES

1. W. Nowottny, *The Language Poets Use*. London : The Athlone Press, 1962, p.123.
2. *The Art of Poetry, London : Routledge & Kegan Paul, 1958, p.64.*

3. H.G. Widdowson, *Stylistics and the Teaching of Literature*. London : Longman, p.3.
4. N.E. Eṅkvist et al., *Linguistics and Style*. OUP, 1964, p.12.
5. G.N. Leech, *A Linguistic Guide to English Poetry*. London: Longman, 1969, p.61.
6. S.R. Levin, "Internal and External Deviation in Poetry", *Word* 21 (1965), p.225.
7. *Sanskrit Poetics as a study of Aesthetic*. Bombay: OUP, 1963, pp.73-74.
8. *Sanskrit Poetics*, Bombay : Asia Publishing House, 1960, p.39.
9. *Bhoja's Śṛṅgāraprakāśa*, Madras : Punarvasu, 1963, p.114.
10. *Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit*, Madras : The Kuppuswami Sastri Research Institute, 1945, p.28.
11. *Bhoja's Śṛṅgāraprakāśa*, p.114.
12. See K.C. Pandey, *Comparative Aesthetics* I. Varanasi : Chowkhamba, 1959; p. 495; K. Krishnamoorthy. *The Dhvanyāloka and its Critics*. Mysore : Kāvyālaya, 1968, p.11.
13. Kuntaka, *Vakroktijīvita*, ed. S.K. De I.10 & Comm.
14. *Ibid*. 1.6.
15. *Ibid*. I.38.
16. *Ibid*., p.14.
17. *Ibid*., pp.195, 14.
18. A. Sankaran, *Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit*. Madras : Madras University, 1929, p.120.
19. *Śabdasya hi vakratā abhidheyasya ca vakratā lokottīrṇena rūpeṇāvasthānam iti ayamevāsau alaṅkāryālaṅkārabhāvaḥ, lokottarataiva ca atiśayaḥ, tena atiśayoktiḥ sarvālaṅkārasāmānyam / Dhvanyālokalocana*, p.467.
20. E. Stankiewicz, "Linguistics and the Study of Poetic Language", in T.A. Sebeok (ed.), *Style in Language*. Cambridge, Mass. : MIT Press, p.70.
21. Roman Jacobson, *O Cheshskom Stiche*. Berlin. Trans. Lother Lutze, *Dialogue*, 1923, p.16.
22. *A Linguistic Guide to English Poetry*, p.25.

23. See S.R. Levin, "Deviation - Statistical and Determinate - in *Poetic Language*", *Lingua* 12 (1963), pp.276-90.
24. S.R. Levin, "Internal and External Deviation in Poetry", *Word* 21 (1965), pp.225-37.
25. Roman Jacobson, "Linguistics and Poetics", in Sebeok (ed.), *Style in Language*, p.358.
26. A. *NoIntosh*, "Saying", *A Review of English Literature* 6.2 (1965), p.20.
27. J. Mukarovsky, "Standard Language and Poetic Language", in D.C. Freeman (ed.), *Linguistics and Literary Style*. New York : Holt, Rinehart, 1970, p.42.
28. This is, actually, the title of one of the two poems written in the summer of 1957 under the heading "Two for Max Zorn" by Dell H. Hymes.
29. *Sanskrit Poetics as a Study of Aestietic*, p.30.
30. J. Aarts, "A Note on the Interpretation of 'he danced his did'", *Journal of Linguistics* 7.1 (1971), p.73.
31. J. Warburg, "Idiosynoratic Style", *A Review of English Literature*, 6.2 (1965), p.59.

8

SCHOOLS OF *RITI* AND *VAKROKTI* AND THE MODERN CONCEPT OF STYLISTICS

C. RAJENDRAN

Stylistics, in modern times has become 'an indispensable part of literary scholarship' because of the scientific tools it has developed in tackling problems of style-study and also because of the valuable insights it can yield into the nature of the literary work. There is no doubt of the fact that it is the advent of modern linguistics, especially the synchronic structural linguistics of the twentieth century ushered in by de Saussure, which has paved the way for the development of stylistics as an analytical descipline. Before twentieth century, Stylistics was normative and prescriptive and was largely dependent on grammar and rhetoric. Now it has broadened its scope to cover all aspects of language like phonology, prosody, morphology, syntax and lexicology.

This paper attempts to examine the *Rīti* and *Vakrokti* theories developed in Indian poetics in the light of modern stylistics. A study of these theories reveals that ancient Indian poeticians were aware of many principles adopted by modern stylistics. This need not surprise us if we take into account the advancement made by ancient Indian language theorists in linguistics which has greatly enriched Sanskrit poetics.

Ferdinand de Saussure, who can be described the founder of modern linguistics makes a fundamental distinction between *langue* and *parole* which has given modern stylistics a firm axiomatic foundation accommodating the scope of variations in speech events within the framework of the abstract general language. *Langue* signifies language thought of as an abstract pattern and parole the individual use of language on particular occasions. The famous example given by Saussure was the 8.45 express from Geneva to

Paris. Each time the train is made up of Engines and coaches which are different. It is not material identity, but the relational identity which is given in the Time Table that enables us to refer to this train. Similarly, when one utters two words with different intonations, it is the relational identity that is cognised not the material identity. (Mac Cabe: 1988:439). This fundamental dichotomy is of great importance in stylistics since it aims at the investigation of the features of the particular usage of language in literature.

Style is defined and understood on the basis of the concept 'register', which stands for 'a set of contextual features which bring about a characteristic use of formal features'. Style is the sum of the resultant formal characteristics. Thus the difference between the style of a telephone conversation and that of an advertisement can be illustrated by the difference in their registers. The former, for instance, may have to use the item 'yes' more frequently whereas words of favourable connotation and grammatical forms like the comparative and superlative adjectives predominate the latter.

Indian *Rīti* and *Vakrokti* theorists were aware of the presence of 'style' in language which they tried to distinguish on the base of formal excellences called *Guṇas*. The fundamental dichotomy between *langue* and *parole* is implicit in this distinction. Daṇḍin explicitly says that there are innumerable styles (*mārga*) in language and proceeds to illustrate two diametrically opposite styles, the *Vaidarbha* and the *Gauḍa*. The geographical significance of these two terms cannot be lost sight of and if we take into account other terms like *Pāñcālī*, *Āvantikā*, *Maithilī* and *Māgadhī* employed by other stylisticians like Vāmana, Rājaśekhara and Bhoja, the relationship of Indian stylistics with dialectology will be clear. Dr. Raghavan identifies the earlier phase in the history of the concept of *Rīti* as a geographical mode of literary criticism (1973:147). Though dialectology is not a major concern of modern stylistics, the basis the Indian classification of *Rītis* is the axiomatic distinction between *langue* and *parole*, a typical linguistic concept.

The concept of dialect itself can be narrowed down ultimately to idiolect, the speech of one particular in-

dividual. Idiolect can be defined as the aggregate of the characteristic linguistic habits of a particular individual within the linguistic community (Leech:1970:138). It has an important role in the determination of the style of a particular author, which is actually governed by both the register and the idiolect. It is no small tribute to the genius of Daṇḍin that he makes a surprisingly modern observation of this characteristically[1] individualistic aspect of style. According to Daṇḍin, the characteristic style of individual poets (*pratikavisthitāḥ*) vary just as 'the sweetness of sugar-cane, milk and jaggery vary vastly[2] (I.101-2) and even Brahmā alone can describe it ! In fact modern stylistics also tries to describe the individualistic aspect of style in a scientific manner, which aspect is hinted by Buffon through his famous statement that 'style is the man himself.

Kuntaka, who advocated the theory of *Vakrokti* also anticipates the concept of idiolect when he refers to three *Rītis*, viz. *Sukumāra, Vicitra* and *Madhyama*. According to Kuntaka, it is the nature of the poet (*Kavisvabhāva*) which is the basis of the variations of poetry (I.24). He rejects the view that geographical features have anything to do with the style of poetry, as is implicit in the nomenclature like *Vaidarbhī*, adopted by earlier theorists. Kuntaka's denial of dialectological features in poetry for projecting the idiolectological aspect, is in harmony with modern stylistics. Kuntaka, however, stops at the formulation of three basic types of style, which can be described as natural, ornate and something combining these two. He does not pursue his investigations further towards the unique element of each poet's individualistic style, notwithstanding his assertion that the basic nature of the poet determines the style.

G.N. Leech (1970:38) speaks about two types of 'institutional delicacy' which is the means through which a linguist assigns different degrees to his descriptions of language, with regard to the linguistic behaviour of large geographical areas. One is the register scale, which distinguishes spoken and written languages, language of respect, condenscension, of advertising, science etc. The other distinguishes the linguistic habits of various sections of society differentiated by age, social class, sex and geographical area. Both the

scales intersect. Both these parameters are used by Sanskrit poeticians. Style featured as a dialectological phenomenon by authors like Bāṇa, Daṇḍin, and Rājaśekhara makes use of the second scale, whereas the distinction made by Kuntaka between poetry and non-poetry is a problem of registers. The limitation of Indian stylistic thought is that it stops its enquiry at the formulation of some abstract stylistic types and does not proceed further to find out what is unique about the style of a particular literary piece or a particular author.

The area of language which a linguistic study is form, a category which excludes physical substance of language and contextual attributes surrounding it. (Fowler:1970:24) There are three elements which comprise the form, viz. phonology, grammar and lexiz. Phonology covers all the phonetic features or style which make special sound effects in literature. Variations concerning grammatical units are subsumed under of grammar. Lexix is the level of linguistic form at which variables can be treated with the greatest freedom and are of most significance to stylistic study. With regard to its importance, A.H. Hill observes that sometimes stylistic is described as the sum total of choices which the language offers to the individual speaker at each point within the sentence (Fowler: 1970:16-17). The scope for choice is manifest greatly in lexis.

It is significant that Indian *Rīti* and *Vakrokti* theorists deal with all these aspects in an exhaustive manner. Daṇḍin's conception of *Guṇas* like *Samatā* and *Mādhurya* involve phonetic features like assonance and alliteration. Grammatical features of the style are also attested by authors like Daṇḍin and Vāmana. Daṇḍin maintains that *Ojas* is the vigour caused to the style due to the employment of compounds. Vāmana's *Mādhurya* stands for compound-free structure. The coherence given rise to by well-knit phonetic patterning, is attested as *Śleṣa* by Daṇḍin and *Kānti* by Vāmana. Vāmana touches upon lexical choice for securing stylistic effects though his concept of *Arthaguṇas*, *Ojas* and *Udāratā*.

But it is in Kuntaka that we see variations at all levels of language treated in the most scientific manner. Kuntaka

maintains that *Vakrokti*, viz. obliquity of expression is the very hall-mark of poetic creations which distinguishes poetry from ordinary expressions. One of the major concerns of modern stylisticians has been the difference between poetic and ordinary languages. According to Winifred Nowottny, 'the chief difference between language in poems and language outside poems is that the one is more highly structured than the other' (Fowler: 1970:10). But there are practical problems in making and maintaining such a distinction since 'it is unlikely that any formal features or set of features can be found, the presence or absence of which will unequivocally identify literature' (Fowler:1970:10). In fact, the tendency of Russian Formalism, one of the pioners of modern structuralist movement, to treat literary language as a dialect of language and to treat its study as an annex of general dialectology has been largely discarded now but such a perspective certainly helped to project its formal features. Kuntaka's concept of *Vakrokti* also helped him to identify and analyse the most salient aspects of literary style in a scientific manner.

According to Kuntaka, *Vakrokti* is manifested at six levels of expressions in poetry: phonetic, lexical, grammatical, sentential, contextual and compositional. These include the phonological, grammatical, and lexical aspects of form recognised by modern stylistics and goes far beyond them, to include larger units of structure. Kuntaka's phonetic obliquity (*varṇavinyāsa vakratā*) encompasses alliteration, rhyme and all other subtle effects of poetry. Lexical obliquity (*padapūrvārdhavakratā*) is the most fertile field of investigation in his scheme and touches upon stylistic choice of proper nouns, metaphorical expression, euphemism etc. Grammatical obliquity involves the deft employment of grammatical suffixes like those indicating number, person and case-forms. It also includes the depiction of inanimate objects as animate and personification too. Sentential obliquity covers all the figures of speech and signifies the overall effect of a sentence. Contextual obliquity stands for the designs employed by poets for the cordination of various segments of the plot. The selection of a suitable plot with new twists added to it, and elaboration of minor incidents

into events of far-reaching consequences are some of the instances of compositional obliquity mentioned by Kuntaka though it is not possible to reconstruct his views fully here because of the unsatisfactory nature of the text of his *Vakroktijīvita* here. A significant feature of Kuntaka's stylistics is that it takes up greater units of discourse than sentence also for analysis in contrast with modern stylistics which does not go beyond the sentence-level. With regard to the necessity of the investigation being extended to trans-sentence levels

Roger Fowler says :

> It must be emphasised that the primary unit for stylistic description is a while text, seen as a unit, not as a string of sentences. At present stage of the development of descriptive linguistics with its marked orientation towards the sentence as the unit for description, there will inevitably concentration, at the level of grammer on smaller units within the text.
>
> (Fowler 1970:20)

It is creditable that Kuntaka goes beyond the sentence in his analysis, though his treatment involves extra-linguistic features of the literary piece also. A comparison of Kuntaka's trans-sentence level analysis and the 'discourse analysis' of structuralist and post-structuralist poetics will be extremely interesting, but that does not come within the purview of the present study.

BIBLIOGRAPHY

Daṇḍin : *Kāvyādarśa*.

Fowler, Roger : 'Linguistic theory and the study of Literature', *Essays on style and Language*, Ed. Reger Fowler, London, 1970, pp.1-28.

Kuntaka: *Vakroktijīvita*

Leech, G.N. 'Linguistics and the figures of Rhetoric', *Essays on Style and Language*, Ed. Rager Fowler, London, 1970, pp.135-156.

Mac Cabe, Colin: 'Language, linguistics and the study of Literature', *Modern Criticism and Theory*, Ed. David Lodge, 1988, pp.432-444.

Raghavan, V: 'Some Concepts of Alankaraśāstra', Adyar, 1973

9

SANSKRIT PHONETICS

RAM KARAN SHARMA

Pāṇini generally assumes knowledge of Sanskrit Phonetics by the readers of his Aṣṭādhyāyī. In his Akṣara Samāmnāya, he follows certain phonetic principles in arranging the placements of the various phonemes. He also refers to the point of articulation and process of articulation in his sūtras such as tulyāsyaprayatnaṃ savarṇam, (1.1.9), aṇudit savarṇasya cā' pratyayaḥ, (1.1.69), akaḥ sarvarṇe dīrghaḥ (6.1.101), jharo jhari savarṇe (8.4.65) etc. The metarale 'sthāne' ntaratamaḥ (1.1.50) requires inter alia the homorganic proximity as a decisive principle for determining the phonological subṣtitution.

Pāṇini defines the three length (ūkālo'j-hrasvadīrghaplutaḥ 1.2.27) levels as well as the three accentuation levels (uccair udāttaḥ 1.2.29 nīcair anudāttaḥ 1.2.30, samāhāraḥ svaritaḥ 1.2.31 and also the level of nasalisation 1.1.8). The operative rules with ugard to them are too numerous to count.

Pāṇini accepts the phonetically arranged alphabetical system as still now preserved in all the representative scripts of the ancient Brāhmī system of writing, where the five stop classes (varges) are velar, palatal, retroflex, dental, and bilabial respectively and each class follows the order of voiceless unaspirate, voiceless aspirate, voiced unasp., Voice asp - and corresponding nasals. Pāṇini has devised a special marker u to denote a particular stop class (udit), viz. ku, cu, ṭu tu, and pu representing all the five stop classes respectively. Of course Pāṇini uses the order of phonemes as arranged in the akṣarasamāmnāya or that in the alphabetical system according as it snits his phonological needs.

There is at least one example in the body of the text of the Aṣṭādhyāyī that may be treated as a Pāṇinian dilema of Sanskrit Phonetics.

According to 1.1.69, /a/ is considered to be of eighteen types (hrasva types 6 dīrgha types 6 and pluta types 6). Unless otherwise restricted, any grammatical operation with regard to /a/ stands equally pertinent for any of the eighteen types of /a/. By definition all the types of /a/ are considered to be homorganic (savarṇa) as their point of articulation (velum) and intrabuccal process of articulation (ābhyantara prayatna) (vivṛta) are the same (tulyāsyaprayatnam savarṇam 1.1.9) and so by force of 1.1.69, /a/ stands for all homorganic /a/ types.

But Pāṇini, being a minute observer of facts, could not help observing the distinctive feature of short /a/ in contrast with all other vowels and even with the other twelve types of /a/. It is that while short /a/ is saṃvṛta (a little closed) according to intrabuccal process of articulation, other types of /a/ as well as all other vowels are vivṛta (comparatively open). Any modern linguist can still observe this difference even with regard to modern Indo - Aryan languages specially of, Śaurasena and Mahārāṣṭra Apabhraṃśa Group. That is to say the short /a/ is just the /a/ and the long /a/ is mid low; in the former the mouth is comparatively closed and in the latter it is comparatively open (saṃvṛta and Vivṛta).

Had Pāṇini been a prescriptive grammarian, he could have left the statements already made (with due regard to brevity and convenience) as they were. But he on the other hand did not forget to describe this minute difference. He thus clearly states that (vivṛta /a/ may be treated as a saṃvṛta /a/) a a iti 8.4.68.

So Pāṇini makes it clear that even though in the interest of brevity and convenience /a/ is regarded as a vivṛta so as to enable it to represent all its homorgonic 18 types in so far as the various relevant statements in the text are concerned, in actual practice unlike other vowels read in the akṣara samāmnāya, the root phoneme /a/ which is short is saṃvṛta and not vivṛta. He succeeds in resolving this apparent contradiction by bringing in the element of supercesion of this Sūtra being read at the end of the Aṣṭādhyāyī in relation to grammatical operation stated in any of the previous sūtras (Pūrvatrā ' siddham 8.2.1).

Thus this much is clear that the Aṣṭādhyāyī presupposes

acquaintance with the various principles of Phonetics in general and Sanskrit Phonetics in particular. Traditionally speaking if Vyākaraṇa represents the speech organ of the Vedic tradition (mukhaṃ vyākaraṇam smṛtam), Śikṣā (Phonetics) represents its olfactory sense organ (Śikṣā ghrāṇam tu vedasya). So it is not unlikely that the Śikṣā (a manual of phonetics) traditionally ascribed to Pāṇini and known as Pāṇinīya Śikṣā is a genuine work of Puṇinian tradition based on the supplementary oral instructions of the revered teacher and subsequently redacted by a knowledgeable Pāṇinīya, as the words of Panarvasu as explained by Agniveśa are redacted by Caraka and subsequently by Dṛḍhabala. The extant Pāṇinīyaśikṣā as edited and presented in Rudra Prasad Avasthi edition, cousists of sixty verses. M.Ghosh considers only eighteen verses therefrom as genuine. I think, there is no need being unnecesarily sceptical about the text and bringing the problem of authorship of Pāṇini of all or any of the verses of the extant text of the Pāṇinīya Śikṣā. As we know Pāṇinian tradition is a living tradition in India even today. The Pāṇinīyaśikṣā is universally acknowledged as a genuine work on Phonetics attached to Pāṇinian tradition. So like akṣarasamāmnāya, dhātu pāṭha, and gaṇapātha, Pāṇinīya śikṣā also forms part of Pāṇinian text and no student of Pāṇini can afford to ignore this major supplement to the Aṣṭādhyāyī. Let us see how the phonetic observations of the Pāṇinīyas as contained in the extant text work.

The Pāṇinīyaśikṣa describes the stages of the production of speech. Firstly, the soul joins the intellect with the object (of speech) and joins the mind with the desire to speak. The mind then hits the bodily fire. The bodily fire inpels the wind up. The wind while moving in the Pulmonic region creates a mild sound conducive to (the recitation of mantras for) the morning oblations and based on the Gāyatrī metre. The same moving in the throat (creates a medium sound) conducive to (the recitation of mantras for) the Midday oblations as based on the Triṣṭubh metre. Moving in the head, it creates a sound conducive to (the recitation of mantras for) the evening oblation and based on the Jagatī metre. The same wind hit back by the surface of the head

enters the oral cavity and produces various sounds which are known to be of five types classified according to (svarataḥ) accents, (kālataḥ) length levels, (sthānāt) points of articulation, (Prayatna) intrabuccal process of articulation and (anupradāna) Extrabuceal process of articulation (P.S. 6-10).

Thus the following details of the five-fold instruments of sound production are given :

i) Accents (svara) 3 : 1) udātta (High), 2) Anudātta (Low) and 3) Svarita (medium circumflex).

ii) Length (Kāla) Levels 3: 1) hrasva (short), 2) dīrgha (long), 3) Pluta (Prolated).

iii) Points of articulation sthāna 8: 1) uras (Pulmonic region), 2) kaṇṭha (velum), 3) śiras (inner surface of the head), 4) jihvāmūlam (the root of the tongue), 5) danta (teeth), 6) nāsikā (nose), 7) oṣṭha (lips) and 8) tālu (palate).

iv) Intrabuccal process of articulation 4: (ābhyantara prayatna)
   1) aspṛṣṭa (untouched, unstopped),
   2) īṣatspṛṣṭa (slightly touched)
   3) nemaspṛṣṭa (half touched).and
   4) spṛṣṭa (stop, touched).

v) Extrabuccal process of articulation 8 :
   (Bāhya Prayatna)
   (a) Ghoṣa (voiced), (b) Saṃvāra (closeness of the vocal chords), (c) Nāda (vibration) (d) Aghoṣa (Voiceless), (e) Vivāra (openness of the vocal chords), (f) śvāsa (Nonvibration), (g) Īṣannāda (slight Vibration), (h) Īṣacchvāsa (slight nonvibration).

Thus according to the Pāṇinīya śikṣā, the phonetic chart of Sanskrit is as follows :

A. Aspṛṣṭas (untouched) - vowels 21 :

a ā ā (velar) / i ī ī̄ (palatal) / u ū ū̄ (bilabial)
ṛ ṛ ṛ (cerebral) / l (dental) / e ē (velar - palatal)
ai āi (velar-palatal) / o ō (labiovelar) / āu āu (labiovelar) /

Apart from the two levels of nasalisation-nonnasalisation, the three length levels of short, long and prolated, the three accent-levels of udātta (accented), anudātta (unaccented) and Svarita (circumflex), the following are the three

levels of openness (vivṛta) of the vowels according to the Pāṇinīyaśikṣā :

(i) āi āi āu āu / most upon 4
ii) e ē o ō / more open 4
iii) The rest of the vowels (just open 13).
cf. P.S.21.

B. Sparśa (stops) 25

Bāhya Pray→ sthāna	Aghoṣa vivāra Īṣacchvāsa	Aghoṣa vivāra Śvāsa	Ghoṣa Saṃvāra Īṣannāda	Ghoṣa saṃvāra Nāda	Ghoṣa saṃvāra Nāda
Jihvāmūla (Root of the tongue)	K	Kh	g	gh	ñ
Tālu (Palate)	c	ch	j	jh	ñ
Mūrdhan (Retroflex)	ṭ	ṭh	ḍ	ḍh	ṇ
Dantya (Dental)	t	th	d	dh	n
Oṣṭhya (Labial)	P	Ph	b	bh	m

C. Yādi 8

	(Antaḥstha) Īṣatspṛṣṭa	(Ūṣman) Nemaspṛṣṭa	
Tālu	Y	ś	
Mūrdhan	r	ṣ	
Danta	l	s	
Dantoṣṭha	v		*h
	Īṣannāda	śvāsa	Nāda

* Nemaspṛṣṭa; pulmonic (urasya) if followed by a nasal stop or an antaḥstha; kaṇṭhya (velar) elsewhere.

D. Miscellaneous 10.

i) Yamas (geminated nonnasal stops followed by a nasal stop) 4
ii) anusvāra 1
iii) Visarga - jihvāmūlīya Upadhmānīya 3
iv) Duḥspṛṣṭa (intervocalic l) 1
v) proliated 1
(cf. P.S. 4-5)

Thus there are sixty four varṇas listed for Sanskrit language in the Pāṇinīyaśikṣā.

It is surprising to note that the Pāṇinīyaśikṣā does not name the Mahāprāṇa and Alpaprāṇa standing for Aspirated and unaspirated phonemes as in the Mahābhāṣyas Āpiśāli śikṣā, Chandragomin's Varṇasūtra, followed by Bhaṭṭojidīkṣita's Sidhānta Kaumudī. The Mahābhāṣya clearly says :

"सन्ति ह्यास्याद बाह्याः प्रयत्नाः ....। के पुनस्ते ? विवार संवारौ । श्वासनादौ । घोषवदघोषता ।

अल्पप्राणता महाप्राणतेति । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च । एकेऽल्पप्राणाः अपरे महाप्राणाः । तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः । एकेल्पप्राणा, अपरे महाप्राणाः । यथा तृतीयस्तथापञ्चमा आनुनासिक्यवर्जम् । आनुनासिक्यर्गषामधिको गुणः ।' (on 1.1.9)

As pointed out above Pāṇini uses the terms Īṣacchvāsa and Iṣannāda for the unaspirated Vl. and Vd. stops respectively and śvāsa and Nāda for Aspirated Vl. and Vd. stops respectively.

W.S.Allen quoting the following verse from P.S., comments on this point as follows :

"....... नादिनो हझषाः स्मृताः ।
ईषन्नादा यण् जशश्च श्वासिनस्तु खफादयः ।
ईषच्छ्वासाँश्चरो विद्याद् गोर्धामैतत् प्रचक्षते ।। 39-40 ।।

"It will be convenient to consider next the process of *aspiration* inasmuch as one of our treatise, the P.S : links this with the voicing process."

"h and the vocied aspirates are voiced, semivowels and voiced stops are partly voiced; the voiceless aspirates are breathed, the

voiceless stops are partly breathed. This is the law of speech."

"In other words, h and the voiced aspirates are considered as more fully breathed than the nonaspirates. In the case of the voiceless pair, the statement makes good sense when we consider śvāsa 'breath' as refering to 'force of voiceless breath rather than simply 'voicelessness. This interpretation is supported by the statement of T P that "more breath is emitted in the other voiceless consonants (i.e. the aspirated stops and the fricatives) than in the unaspirated stops.

[bhūyān prathamebhyo' nyeṣu II.11. The VS' (280, 282 : Lüders p.95) gives to this special degree of breathiness the title of arka' (f.n)] and is in accordance with the grammatical and later phonetic terminology of the distinction between aspirate and nonaspirate namely mahāprāṇa, lit. 'big breath' and alpaprāṇa, lit.' little breath.

"If we now turn to the P.S.' statement regarding the voiced pair, similar considerations apply : nāda 'voice, being interpreted as 'force of voiced breath', the statement implies greater breath force on the release of the aspirates than of the non-aspirates. The justification for such a statement is clearly reflected in kymographic tracings, where the voiced breath correlates with a particularly high amplitude in the vocalic wave-forms; from this point of view h and the release elements of the voiced aspirates may be considered as an 'overblowing "of the following vowel" (Phonetics in Ancient India, pp.37-38).

Let us have a look at Sanskrit Phonetics as recorded in Bhaṭṭojidīkṣita's Siddhānta kaumudī, which is by and large based on PS but deviates here and there on minor details following the Mahābhāṣya, Āpiśali Śikṣā and Candragomin's Varṇakrama :

It will be seen that there is basically no difference between the phonetic statements as in the Pāṇinīya śikṣā and those recorded in later phonetic treatises represented in the Siddhāntakaumudī. The subtle minor differences may perhaps be ascribed to historical or regional variations in speech habits as they reflect themselves in the regional (etc.) morphophonemic variations recorded in the body of the Aṣṭādhyāyī itself.

Sanskrit Phonetic Chart

Svara (Vowels) ghoṣa, alpaprāṇa	Kaṇṭha velar	Tālu Palatal	Mūrdhan Retroflex	Danta Dental	Oṣṭha Labial	Kaṇṭha Tālu Palat. Vel.	Kaṇṭhoṣṭha labiovel	dantoṣṭha
Vd. unasp. Three length levels; three accent levels; two nasals	a (18)	i (18)	ṛ (18)	l (12)	u (18)	e (12) āi (12)	O (12) āu (12)	
Antaḥsthas (Semi vowels) Vd. unasp.		y	r	l				v
uṣman (Fricatives) * vl. unasp.	*h	ś	ṣ	s				**
Sparśas (Stops) — Aghoṣa Voiceless — Alpaprāṇa unasp	k	c	ṭ	t	P			
Sparśas (Stops) — Aghoṣa Voiceless — Mahāprāṇa Aspirat	kh	ch	ṭh	th	ph			
Sparśas (Stops) — Ghoṣa Voiced — Alpaprāṇa unasp.	g	j	ḍ	d	b			
Sparśas (Stops) — Ghoṣa Voiced — Mahāprāṇa Asp.	gh	jh	ḍh	dh	bh			
Sparśas (Stops) — Ghoṣa Voiced — Alpapr. unasp. Nasal	n	ñ	ṇ	n	m			

* Voiced, aspirated (ghoṣa, mahāprāṇa). According to the Āpiśāliśikṣā also 'h' is a velar fricative (akuhavisarjanīyāḥ kaṇṭhyāḥ 17) but it also suggests that some phoneticions consider this as pulmonic (urasya), id. 18.

**Visarga (vl. asp.velar fricative); anusvāra and anunāsika (nasal Vd. unasp.), and also Yamas (geminated stops followed by nasal stops).

Thanks to illustrious scholors like Siddheshvar Verma and W.S. Allen, ancient Indian phonetic genius has been considerably identified and its impact on modern Phonetics has also been highlighted. But to quote Allen again :

"The recognition that analyses so advanced in their technique should have been evolved at so early a date may well inspire a salutary scientific humility, and it would be at once arrogant and pessimistic not to expect that a reinterpretation will again be necessary in another eighty years or even eight" (Preface).

10

KAUṆḌABHAṬṬA ON THE MEANING OF ALPHABATES*

PUSPA DIKSHIT

According to Nāgeśa Bhaṭṭa the *vākya-sphoṭa* is the principal linguistic unit to express the sense and with that only one can understand the complete meaning. The author of Bhūṣaṇasāra - Kauṇḍabhaṭṭa also agrees with this view that the *vākyasphoṭa* is the final linguistic unit in denoting the sentence-meaning. The grammatico-philosopher Bhartṛhari says :

upāyāḥ śikṣamāṇānām bālānām apalālanāḥ /
asatye vartmani sthitvā tataḥ satyam samīhate //
(V.P. II.238)

i.e, at the time of teaching the different sciences / skills (the teachers) take instances of fictitious entities, which infact lead the children through fiction, but by passing through this fictitious path they realise the truth.

As per the school of grammar, the sentence-meaning is cognised only with the help of a sentence. This is the ultimate position in the school of grammar; yet, for the practical purpose of sentential analysis, the grammatical tradition assumes the *varṇa-sphoṭa* and the classification of words into stems and suffixes and then their potency to denote the meanings. Bhartṛhari says :

ye śabdā nityasambandhā viveke jñātaśaktayaḥ /
anvayavyatirekābhyām teṣām artho vibhajyate //
(V.P. II.166)

i.e. those words having regular relations with their own denoted senses, only with the distinction of their stems and suffixes, the denotative function of such words is known. On account of their permutation and combinations, the meaning of such words are distinguished.

---

* *The article is translated from Sanskrit by the editors.*

Thus, according to Bhartṛhari, it is to be accepted that the distinctive meanings of the words are denoted by the stems and suffixes.

The distinctive meanings of words like *kūpa*, *sūpa* and *yūpa* etc. are based merely on the alphabates (like *k*, *s* and *y*). Moreover, only by *k* or only by the word *upa* no meaning is cognised, and thus, the component whole can express the word-sense. Bhartṛhari says in this context :

na kūpasūpayūpānām anvayo 'rthasya dṛśyate /
ato 'rthāntaravācitvam saṃghātasyaiva gamyate //
(V.P.,II.168)

i.e. there is no relation amongst the meanings of the words like *kūpa* (well), *sūpa* (winowing basket), *yūpa* (sacrificial post), and thus it is accepted that the component whole alone can denote the distinctive meanings.

For instance, in the verbal form *bhavati*, the meaning of the stem *bhū* is *sattā* (existance) and the meanings of the suffix are agency, number and time. The suffix *śap* is added to it only in the same sense. Therefore, in the verbal form *bhavati*, the suffix *śap* and in the form *vṛkṣāṇām* the suffix *nuṭ* do not have any independent meaning. It is said in the Mahābhāṣya on P.1.3.67 that : 'If the meaning of *bhāva-kartṛ* (passive agent) is *sārvadhātuka* then, in (the number) like singular, dual and plural no rule will be applicable, since they are not in the same sense. And if they (*śap* etc.) are used only with the sense of *vika-raṇa*, then when (the meaning) is expressed by the *kṛt*-suffix, the *vikaraṇa* should have not been added.

Therefore, the essential nature of *varṇa-sphoṭa* with reference to their denotations in connection with manyfold meanings like *prakṛti* (stem), *pratyaya* (suffix), *āgama* (ugment) and *sthānyādeśa* (originals and substitutes) is to be established.

When some-body uses : *pacati rāmaḥ* (i.e. Rama is cooking), though the phonetic entities like *tip* and *visarjanīya* are heard, and for the scientific analysis of the words, the grammarians assume the L-members and S-suffixes etc. Here, the question is whether these phonetic/grammatical elements individually denote any sense, which contributes in understanding the sentence-meaning or not ? In this

connection the Naiyāyikas say : In the grammatically well-formed words, the *ādeśa* (substitute) reminds the sense of the *sthānin* (originals) and the meaning is understood, but the *ādeśas* (substitutes) do not denote the meanings directly. According to Pāṇini also, the meanings are denoted by the *l*-members and the like, stated in the aphorism : *'laḥ karmaṇi ca bhāve cākarmakebhyaḥ* (P. 3.4.69) and *saujasamauṭ.* (P. 4.1.2) so on and so forth. Similarly, with the help of *ṇal* etc. one recollects the *tip* etc. and then he recollects the l-members which finally denote the meaning. The defect in this view is that, in the forms like *tiṣya* (expressing the time which is associated with the star *tiṣya*) *vāri, ānaya, dadhi, madhu, apāci, brāhmaṇa* etc. where we do not find the suffixes physically present, the understanding of the meanings might not occur, but it is not so. One does understand the meaning of these words. If somebody says in reply that in the form of absence (*abhāva*) by the grammatical injunction *luk*, the understanding occurs, then there would arise another defect viz. occurance of understanding is possible even by the absence of any word at any context. But it is not acceptable. In this context, it is said by the Naiyāyikas in reply that *l-tvam* is a generic property (*jāti*) and when the word potency is accepted in that, then the generic property becomes the delimitor of that which possesses the word-potency, and thus, that is convincingly non-heaviness in the concept. The cognition of the word-potency is being delimitted by *l-tva* (l-ness) also. The denoted meaning of the verbal-suffix is *kṛti* (volitional effort) and thus, the cognition of the word-potency does expect the pre-existance of the cognition of *kṛti*. Therefore, there is no inapplicability of the convention of cause-product relationship. The Pāṇinian aphorism : *laḥ karmaṇi ca bhāve cākarmakebhyaḥ* (P.3.4.69) also does indicate to the said theory. Moreover, there is no Pāṇinian rule in favour of the denotation of the sense by the *ādeśas* (substitutes) which could be accepted in support of the theory that *l*-members are expressive of the word-sense.

The author of Vaiyākaraṇa Bhūṣaṇa, Kauṇḍabhaṭṭa has refuted this view of the Naiyāyikas. According to him, the Naiyāyikas do not know the true sense of meaningfulness. He says :

vyavasthiter vyavahṛtes taddhetunyāyatas tathā /
kiñ cākhyātena śatrādyair laḍeva smāryate yadi /
katham kartur avācyatvāvācyatve tad vibhāvaya //
(VBhS. 60)

i.e. 'the cause of that (i.e. the cognition of the word-sense) is thus established by usages and by the logical expression. Moreover, by the verbal suffixes like *śatṛ* etc., if the *l*-members are recollected then how is it that the denotation of the inexpressiveness of the agent is possible ? (Please) try to investigate into that'. Furthermore, even though a person not knowing the grammatical elements like *sthānin* (original) and *ādeśa* (substitute), i.e. one who has never studied the grammar, he also understands the meanings only after listening to the words like *pacati, bhavati* etc. ; and thus, in such situation it is difficult to assume that the *l*-members denotate the word-sense being remembered. It should not also be assumed that cognition arises due to the erroneous knowledge of the verbal suffix *tip* etc.; since there is no reason to accept that the *tip* etc. erroneously cause the cognition of word-potency in themselves. There are eighteen *tiṅ-s, śatṛ* and *śānac, kvasu* and *kānac* (i.e. 18+2+2 =22) totaly twentytwo *ādeśas* (substitutes) of the *l*-members. But in accordance with the scientific analysis of the language, the *sthānins* (originals) are many. Moreover, other grammarians like Śākaṭāyana, Āpiśāli etc., who had a free hand in accepting *kaṭ-kiṭ, khaṭ-khiṭ, gaṭ-giṭ* etc. similar to that of the *l*-members of Pāṇini, which shows the irregularity of the *sthānins* but regularity of the *ādeśas*. It is fantastic. On the other hand, if it is accepted that every *sthānin* (original) is possessor of the word-potency then there would be the defect of *ānantya* (state of endlessness or infinity) and that is the heaviness in the concept. If they (i.e. the *sthānins*) are remembered then there is the causeness in *tip* etc. and like-wise there is the effectness is the *l*-members. Therefore, the potency of the effect in the form of causing the cognitionis there in the verbal suffix *tip*. etc. also. Hence, it is the final expression, which comprises all syllables with a sequence of definite order - and it should be accepted as the denotator of the sentence-meaning. Therefore, the cause

of the expressiveness lies in the expression, which is useful for *varṇa-sphoṭa*. If the *l*-members are accepted as denoting the word-sense, then even at the derivational stage like *bhū+l*, one can get the verbal cognition viz. the action causing the existance which occured in present time, and by one and the same agent. But is quite impossible and illogical also. The basic theory of the language would be at stalk. Moreover, according to the theory of Nyāya philosophy the meaning of the verbal-suffix (*tip*) is volitional effort, and the meaning of the primary suffix is the agent, i.e. the possessor of the volitional effort. The *tiṅ* (verbal suffix) which is the substitute of *l*-members are expressive of the volitional effort and the primary suffixes like *śatṛ* and *śānac*, which again are substitute of *l*-members are expressive of the possessor of the volitional effort. This is the doctrine of the Naiyāyikas.

But according to the school of grammar, which propounds the theory that the substitutes denote the word-sense, the substitutes are different from the originals, their word-potency lies in the volitional effort and ultimately the volitional effort means the agent only. Thus this is more appropriated from the view point of the scientific presentation of the language.

Moreover, in the expression : *pacatitarām maitraḥ*, i.e. 'Maitra cooks well', the activities leading to the excellency in the softness of rice is understood. In the other expression like : *pacatikalpam maitraḥ* i.e. 'Maitra is about to finish cooking', the activities that yield the softness in the rice which is yet to get completed is understood. Thus, even for the Naiyāyikas, who advocate that the meaning of the verbal suffix is volitional effort, must accept the relation *viz.* identity of the agent with *tiṅ*. Because, they opine that the relation *viz.* identity can not occur other than amongst the meanings of the nominal stems.

But this defect in the relation namely identity does not arise according to the school of grammar, since (i) the verbal cognition arise when the substantive being the chief qualificand which is the (nominal) stem of the case marker *sup* and (ii) the verbal cognition arises when the action -

which is to be accomplished - is the chief qualificand being the meaning of the verbal stem ending in *tiṅ*.

Therefore, it should be accepted that the denoting function is only in the suffixes like the substitutes *tip* etc. which are actually heard, but not in the original *l*-members, which are only assumed (by Pāṇini) for the grammatical analysis of the language. Kauṇḍabhaṭṭa also argues that the Pāṇinian aphorism *viz. laḥ karmaṇi ca bhave cākarmakebhyaḥ* is phrased for grammatical brevity and there the *l*-members are assumed as denotator of the agent and the like.

Thus the dialouge on the issue : whether the originals (*sthānins*) or the substitutes (*ādesas*) denote the word-sense does not stand valid. The thesis on the denotation is suitable to both. The word classification like *upasarga* (prefix) *nipāta* (underivables) *dhātu* (verbal stem) etc. is also just assumed (but is not real) for the scientific analysis of language. These assumptions stand valid for the grammatical brevity (*lāghava*) and thus the substitutes like *tip* etc. are designated for the *l-members. There the meanings of the originals are stated by the seers quite explicitly. But according to the school of Nyāya philosophy, the substitutes are potential, since the same sense as that of the originals has been extended to them. When with such assumption the component whole is understood then only the denotative function is either with the word or with the sentence. Because common people understand the meaning from them only. This is the views of Nāgeśa as expressed in his Mañjuṣā.*

In the commentary on the aphorism : *bhūvādayo dhātavaḥ* (P.1.3.1), Kaiyaṭa says : 'It is established that the component whole like *pacati* etc. are expressive of the synthactically related meanings. But only on the assumption at the time of grammatical analysis, the classification of the meanings and the words like stem and suffix are distinguished. Since, the words are eternal, it is understood that the suffixes are not permanent but only forms of assumption.

Therefore, the *sphoṭa* is called *varṇa-sphoṭa,* which is in the form of stem and suffix constituting the word usable in a sentence.

11

A COMPARATIVE STUDY OF SEMANTIC PRINCIPLES WITH REFERENCE TO YĀSKA AND PĀṆINI*

SUDYUMNA ACHARYA

There is no doubt that the scientific treatise of Grammar and Linguistics have been expanded by the great etymologist Yāska and the great grammarian Pāṇini. Both the seers have adopted a scientific methodology to explain the words as well as their meanings. The great etymologist Yāska declares : *Artho nityam parīkṣeta,* i.e. 'the meaning must be examined regularly', and he gives the etymology of the words keeping constant touch with their meanings. Pāṇini also, while giving the derivations of the words, concentrates upon their meanings. Though this methology is adopted by him for each and every word, still with the comparative study of a few words, the wonderful significance of their meanings could be presented.

THE SEMANTIC MENIFESTATION DUE TO PHONETIC CHANGE

Both the *ācāryas* (i.e. the great linguistic teachers) describe the semantic menifestation based on phonetic changes of the words. But, it seems that Pāṇini does not want to give the etymology of the non-derivatives. On the other hand, he teaches such words under the *nipātana* - heads and he derives them without taking note of the meanings of the base forms. On the contrary, Yāska gives the etymology of such words based on their phonetic changes even though they are treated as non-derivatives.

Let us consider the word *viṁśati* (twenty) for instance. Pāṇini leaves it as underivable. The commentators determine the meaning here as : *dvau daśatau parimāṇam asya saṁghasya*

---

* *The article is translated from Sanskrit by the editors.*

vimśatiḥ (Kās. on P.5.1.59) based on the phonetic change. According to Pāṇini, *vin* is an *ādeśa* (substitute) in the place of *dvidaśat* and to the stem (*vim*) *śatic* is added as suffix and thus, the word *vimśati* is derived. The commentators say, the words like *vimśati* etc. are words expressive of quality (*guṇa*) and some-how, they are to be derived.[1]

But Yāska gives the etymology as : *vimśatir dvidaśataḥ* (Nir., 3.10) i.e. the word *vimśati* is derived from *dvi-daśat*. Thus, it means that the word *dvi* is transformed into *vin* and *daśat* into *śati*. It seems that the word *vimśati* - according to the given two etymologies was perhaps as *dvimśati* at an earlier stage. In English, we know it means 'twenty' and here the *da* of *dvimśati* is found as *tw*. And thus, according to the modern comparative philology, these two etymologies of the word *vimśati* are justified in almost all the languages in the Indo-European family.[2]

But it is not clear as per the Pāṇinian explanation that how *dvi* and *daśat* get replaced by *vin* and how the substitute *vin* can express both the senses of the two originals (*sthānins*). More over, it is also interesting to note that Pāṇini has added a meaningless suffix viz. *śatic* to the stem. The commentators also, while somehow explaining the etymology say - one need not concentrate upon the sense of the parts of the word (i.e. the stem and suffix) and it seems that they are also not satisfied with such explanation.

Yāska, on the other hand, justifies here that *vin* is denotative of the same sense of *dvi* and *śati* is denotative of the same sense of *daśat* and thus, etymologically the meaning of *vimśati* is quite scientific.

Take another example. The word *paṅkti* for instance in the same aphorism of *Aṣṭādhyāyī* is derived from the word *pañcan* (five) with the help of the suffix *ti*. The word *paṅkti* is taken for the sense 'that which has the measurment five;.

Yāska also derives this word from *pañcan* (Nir., 7.12) and the meaning is 'a meter'. The question is : how is it that even the word *paṅkti* is derived from *pañcan* expressing the sense 'sequential order' even though there are more then five in number. The commentators opine that there is no individual meaning of any part of the word, and the whole sense of the word is natural.[3]

Yāska says : the word *pañcan* denotes many meanings with the help of the secondary word potency, as it is in the word *pañcajana* in the sense of 'the whole humanity.' If the secondary word potency is not accepted then, how it can express the sense viz. 'the whole humanity.' The meaning will be justified only if it is accepted that the usage is not the primary one. In Hindi it is said '*hum pāñca*, meaning 'we are many' where *pāñca* means 'many'. According to this description, the word *paṅkti* could be justifiably derived from the word *pañcan*.

THE SEMANTIC JUSTIFICATION DUE TO MORPHEMIC CLASSIFICATION

Pāṇini and Yāska have described the meanings of the words on the ground of morphemic classification, descriptive presentation of the verbal roots as well as suffixes. As per the justification of the verbal root is concerned, it is clearly understood that the linguistic element which is expressive of the action is known as *dhātu* and which is expressive of the number etc. is known as *pratyaya*. But in his derivational procedure, Pāṇini does not clarify the morphemic units. On the other hand, Yāska does clasify that and gives their semantic justification.

Let us consider the word '*samgrāmayati*' (prompts to fight). Pāṇini derives this verbal form from the verbal root *samgrām-*, which he includes in the 10th class of the verbal roots. He does not explain the morphophonemic meanings of the verbal form *asamgrāmayat*.

But Yāska, by giving the etymology as : *samgatau grāmau* (Nir. 3.9), he classifies the word *samgrāma* as *sam+grāma* and explains the morphophonemic meanings. Thus, the linguistic element *sam* denotes the meaning 'coming closer' and the word *grāma* denotes the meaning 'class'. Later on the meaning of the word *samgrāma* became 'war' due to the semantic principle 'contraction of meaning.' It is obvious that the soldiers do gather in a war. In this manner, the natural menifestation of the meaning of the word '*samgrāma*' is justified. Moreover, by this etymological explanation, the process of the semantic change in the mind of the mass is also presented.

Take another example : Ācārya Pāṇini teaches *dadhnac* as a suffix to the word *jānu* to derive the word *jānudadhnam* meaning 'that which has the depth till thigh.' In this explanation, no meaning of the so-called suffix *dadhnac* is known.

But Yāska, says : *dadhnam dadhyateḥ sravatikarmaṇaḥ* (Nir. 1.9) i.e. the word *dadhnam* is derived from the verbal root *dadh* - expressing the meaning 'action of motion' with the help of the suffix *na*. In vedic period, this word was used in accordance wih a definite sense and this enjoyed the status of an independent word. But on account of the semantic change, this word began to be used as a subordinate part of the main word denoting the depth etc. of the thigh and the like. According to Yāska, if and only if the words like *dadhna* etc. are accepted as independent words then only the compound forms like *jānudadhna* etc. would be formed and etymologically derived. Thus, as per Yāska's explanation, we understand that the word *'dadhna'* etc. were used independently in earlier days and the inner meaning of such words are cognised in the later period which is an evidence of the semantic change.

THE SEMANTIC DESCRIPTION ACCORDING TO ANCIENT CONVENTION

It is generally accepted that Pāṇini and his commentators describe the word meaning as per the convention of their time. Take for example the word *'araṇyānī'*. Pāṇini derives this word from the nominal stem *araṇya* and the suffix *ṅīṣ* in feminine gender with an ugment *ānuk* (see P.4.1.49). But Kātyāyana, the author of Vārttika, explains this word from the same nominal stem with the suffix *ṅīṣ* in the sense of greatness, which probably was the conventional meaning used in his time and he has to stress that.

But Yāska explains the same word in accordance with the convention which was still earlier. In *Nirukta,* he states the word *araṇyāni* means the wife of *araṇya* (Nir. 2.29). The personification of *araṇya* (forest) was accepted in the early Vedic era. We find such personified expression in Ṛgveda (10.146.1) also. :

araṇyāni araṇyāni asau ya preva naśyasi.

It is understood from the said explanation that the word *araṇyānī* meant for the great wife of the forest with excellent beauty. But later on this came to mean only its greatness.

Take another example : Kātyāyana teaches the suffix *tanap* and *kha* to the nominal stem *nava* which again is substituted by *nu* to derive the word *nūtanam* and *navīnam*. Here the substitute *nu* does not express the original meaning. There arises another question that, if there were no *nu* as an earlier form, then how the word *nava* is derived ?

But Yāska following the Vedic usages, explains the sense of the word *nu* as *navīna* (new). In the introduction to the *Nirukta*, Yāska says : *nu ca purā ca*, where he used *nu* as contrast to *purā* (meaning old).

According to comparative philology, Yāska's use seems to be correct. The same word *nu* is seen in the languages like English etc. as 'new'. This proves that the word *nu* is very old and it was perhaps kept intact in the Indo-European language.

Let us consider another usage for instance. The word *cikitsati* is derived from the verbal base *kit* in the sense dwelling with the suffix *san* by Pāṇinian aphorism *guptijkidbhyaḥ san* (P.3.1.4). But, to justify the meaning of the word *cikitsati*, the meaning of the verbal base *kit* is determined as 'cure of disease', by the commentators (vide Com. on P. 3.1.4). But by adopting this method, it is not clear that how the semantic change took place.

Yāska, on the contrary says : *cikitvān cetanīvān*; this tells us that the meaning of the verbal base *kit* is knowledge, cognition or realisation. And knowing the cure of the disease is considered to be the most distinct knowledge in social life and thus, according to this convention the verbal root *kit* came to mean the same. The word *vaidya* (doctor) become welknown in this process only. Because, physical treatment is the excellent knowledge in the world.

Therefore, by the comparative study of the words, we can know the wonder of the semantic world and its manifestation.

NOTES AND REFERENCES

1. See *Kāśikā* on P. 5.1.59.
2. *viṁśati* is traced to *divs* + *daśat*. It is a remarkable etymology supported by many modern philologists. *The Etymology of Yāska*, p.5.
3. See *Kāśikā* on P.5.1.59.

12

MORPHOPHONEMICS AND *SANDHI*

B.D. MISHRA

1. The first term of the title *'Morphophonemics'* belongs to the Structureal school of Linguistics of America, where as the letter one *'Sandhi'* is from ancient Indian Grammarians. Both schools are poles apart from each other in of time and space. One more characteristic differes; the modern linguistics aims at universalization of analysis, whereas the Indian Grammarians, particularly Pāṇini, have analysed Sanskrit Language alone. The theories of modern linguistics how-so inadequate they might be, are applicable to numerous languages of the world. The linguists have applied with slight variations according to their schools. On the other hand, the techniques and the theories of ancienct Indian Grammarians remained confined to Sanskrit alone.

The paper has excluded the points as found under transformational Generative grammar, because the T.G. grammar does not accept 'morphophonemics' or even 'morphology' as a branch of Linguistics. Initially Chomsky proposed Morphophonemic Rules, but discarded them later on.

2. Both the terms of this paper deal with sound patterns, which are audible units, rather than written ones. The modern linguistics has evolved quite a rigorous methodology for collecting language data for analysis. It is called *'Field Methods'*. We are taught how to prepare questionnair, how to select the centres, the informants, and how to record the data from the informants. It is quite reasonable to presume that pioneer work of Pāṇini was based on observed facts of language of his time. It is synchronic, descriptive and diachronic. I have not come accross in any book of field methods where speed of the informant is made important while recording the data. But in Sanskrit the speed of speech, or the tempo of speech, was made crucial for various purposes.

"अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्ति प्रयोगार्थे तु मध्यमास् ।
शिष्याणां उपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ।।

(ऋक् प्रातिशाख्य, 16)

Here the "वृत्ति" is tempo which was important for reciting teaching and analysis of *vedas*. The same is the case with all the classical languages.

The reference of this tempo is decisive in out-come of morphophonemics as well as *Sandhi*. Depending upon tempo of the speech we speak *'Paṇdit jī khāt hai'* (पंडित जी खात है) as well as *Pandījī khāthai* (पंडीजी खाथैं) which form should be taken into consideration of analysis and why ? the choice would certainly affect the result at morphophonemic and *sandhi* level. Here the Sanskrit grammarians are far ahead.

3. The third point worth noting in both the terms viz. 'morpho-phonemics' and *'Sandhi'*, is that the first one is a branch of Linguistics, whereas the 'Sandhi' phenomena is a sound process found in Sanskrit analysis. For coining the scientific and technical terminology, the English language, like all modern European languages, depends upon Latin and Greek, which are fountain languages. Sanskrit is also a fountain language. American Linguists have coined thousands of technical terms, still they borrowed Sanskrit terms 'Sandhi' while elaborating the scope of morphophonemics. It shows the importance of Sanskrit analysis so far as sound combinations are concerned.

4. We may now define both the terms. Hockett, while placing 'morphophonemics' into central subsystem of language design, defines it as "the code which ties together the grammatical and phonological system" (Hockatt : 1958: 137). The unit (morphema) is represented phonologically by what he calls a 'morph', which is made of phonological units (phonemes) in the same way as the phoneme in the sound chain is represented concretely by a phone (Malm Berg : 1964 : 167). The statements made about particular morphological construction may differ according to the level at which the statements are made. For example, *cats* in English language can be said to be made of by two morphemes : *cat* + *-s*. This is inter level statement, where as at intra - level the same construction could be said to be

represented by phonological sequences of / *k* / + / *a* / + / *t* / = *Kats*.

5. Had there been one - to - one representation between the grammatical unit, the morpheme, and its phonological representation, or the morph, there would have been no difficulty, but in languages this ideal situation is not found, because the language associated with living being varies on time and space diamentions and also due to psychological and social factors. In Hindi we find three allomorphs of पानी *'Pānī'* in *Pānī' Pani*, (पनि) in *'Panihārin'* पनिहारिन, and *Pana* (पन) in *Panghat'* (पनघट), and we must select any one of them as base morpheme or the प्रातिपदिक. The very choice of 'प्रातिपदिक' would change the results at morphophonemic and *sandhi* level. Making *'Lorka'* or *'Larak'* as प्रातिपदिक in Hindi automatically changes the compositions of inflectional units as well as morphophonemic processes and *sandhi* involved there in.

As is the case with the selection of base morpheme or the प्रातिपदिक, so is with other allomorphs, the members, the alternants of the same morpheme. Plural allomorphs of English nouns may be mentioned here. They are /s/, /-z/ ,/iz/ and /en/ etc. as found in cats, dogs, roses and oxen in English.

6. The relationship between alternants or the allomorphs is decisive factor for morphophonemic statements, as well as the types of *sandhi* found in any language of description.

The term *'Sandhi'* literally means 'placing together'. This is a type of sound modification, sound changes found both at derivational and inflectional level. The Sanskrit grammarians identified these morphological processes like assimilation, elision (लोप) internal change etc., and categorised them suitable to Sanskrit structure.

Another term similar to *Sandhi* has been in currency in Sanskrit. It is (संहिता) *'Samhitā'*. Its primary and first meaning found in Sanskrit dictionaries is 'combination, union, conjuction'. Its secondary meaning is "any systematically arranged collection of texts or verses". "In grammar its meaning is associated with" "combination or conjunction of letters according to rules of Sandhi euphony."

The following quotes from ancient texts would show the near synonymy between *sandhi* and *saṁhitā* :

पदप्रकृतिः संहिता (निरुक्त-6)

परःसन्निकर्ष संहिता (अश्वाध्यायी)

वर्णानामतिशक्तिः सन्निधिः संहिता स्यात् (सिद्धान्त कौमुदी)

वर्णानामेक्प्राणयोगः संहिता (आप्टे)

पदान्तपदाद्योः (वाजसनेय प्राति.)

सन्धिरेकपदे नित्यो नित्यो धातुपर्सगयोः ।

सूत्रेषु च भवेन्नित्यः स चान्यत्र विभाषया ।

संहितैकपदे नित्या नित्या धातुपसर्गयोः।

नित्या समासे वाक्ये तु सा विवेक्षमपक्षेते ।। (अमरः)

Siddheswar Verma writes : "*Saṁhitā* or connected speech is of two kinds : textual and phonetic. In latter case a unit sound group or *saṁhitā* is that which is within the compass of single breath. (Siddheswar Verma, 1961 : 127)

There have been efforts to differentiate *sandhi* and *saṁhitā*. Patañjali declares संहिता based on folk pronunciation :

"संहितावसानयोर्लोके विदित्त्वासिद्धम् "

In technical terminological dictionary for linguistics prepared by Govt. of India (मानविकी - 5) both these terms have been reported as following :

संहिता = Juncture (आयोग 1966 : 166)

संधि = Connection / Liason, coalescence, euphonic combination, fusion.
(आयोग 1966 : 163)

7. The phenomena of *sandhi* has been accomodated in structural linguistics into types of alternations which are as following :

1. Internal and external *sandhi.*
2. Automatic and non automatic.
3. Regular and irregular.
4. Phonologically and morphologically conditioned.

The internal *sandhi* has been defined as alternations with a word or between one free form, where as external *sandhi* is said to be found between two words. नि + अवसत = न्यवसत राम + ईश्वर = रामेश्वर are examples for both types respectively.

Hockett's automatic and non-automatic alternations are said to be *sandhi* variations by Hall (Hall 1969 : 139). 'Improbable' is automatic in which /n/ changes into /m/ before/ p,b,m/.

8. Another relationship between these terms and schools is the concept of morphophoneme, a basic unit of morphophonimics. This unit (phoneme) is at the level of sound but functions like a morpheme. In English //i// is morphophonema in *sing, sang, sung*. In Sanskrit though the terms equivelant to morphophoneme is not found, the linguists have identified प्रत्याहार as group of morphophonemes functioning in *sandhi* as well as in inflectional affixation.

The whole analysis and outcome of morphoponemic and *sandhi* concept depends upon models of grammatical descriptions which have been eleborated as item and arrangement. Item and process and word and Paradigm (Zoose, 1958 : 386 : 399).

Thus the two concepts are closely related as detailed above.

13

KĀRAKA DEFINITIONS - REVISITED

ACHYUTANANDA DASH

0.1.1 : Research on Sanskrit Syntax has gained momentum in last two decades. Many celebrated scholars have done quite substantial work in the field as presented by Hock (1989) in his status report on 'Research on Sanskrit Syntax'[1]. Quite justifiably he remarks at the end of his article :

> "Most of all, however, much more research needs to be undertaken. For even with the recent increase in publications, the field of Sanskrit syntax is vastly under-researched compared to, say English - or even Hindi. So many areas of Sanskrit syntax are still uncertain or poorly understood that any person venturing to do research in this area is virtually assured of discovering new and previously unexplored territory."[2]

This remark on the research on Sanskrit syntax is indeed very encouraging to young and active research scholars to undertake research in this area. It is unfortunate that some of the indigenous scholars feel - quite contrary to Hock's opinion - that enough works have been done in this area, and what is new there ? But to our understanding, quite a lot is still remaining to be done, and I do agree with Hock that, any serious attempt on Sanskrit syntax can help to discover many unexplored territories which can solve many problems in the field of Linguistics and Philosophy of language.

0.1.2 : In this paper it is intended to present the traditional definitions of *kāraka* and critically examine their validity. In our opinion many of the traditional definitions of *kāraka* have not yet been seriously examined in modern times. Unless we understand the tradition properly and throughly, we can't proceed further research on Sanskrit syntax based on the broad outline drawn in Modern

Linguistics. Here, however, our approach will be confined to present the traditional views on *kāraka* that have been defined and discussed in the schools of Vyākaraṇa, Nyāya and Mīmāṁsā. In short, the linguistic and philosophical aspect of *kāraka* theory is intended to be examined in this paper.

0.1.3 : In course of my study on the *kāraka* theory,[3] I have come across not less than 35 *kāraka* - definitions in different branches of Indian linguistics and almost each of them present a different theory of *kāraka* or atleast, they present a new approach to define the *kāraka*. I have short-listed 25 *kāraka* definitions here (Pl. see Index No. 1) and what follows is a classification of these definitions and a critical study on them.

THE CLASSIFICATION OF *KĀRAKA* DEFINITIONS

1.1.1 : If we critically examine the *kāraka* definitions in the *śāstric* tradition in India, we find that the definitions are based on many approaches to the theory and many diamentions of the intrinsic nature of *kāraka* have been exemplified there. Thus, if we broadly classify the *kāraka* definitions, we find that some of them are based on :

- the etymology of the term or the functional aspect of the theory ; (No.s 1, 2, 3, 25, 26, 27)
- the fundamental nature of the term or on the philosophical aspect of the theory; (No.s 4-8)
- the relational aspect of the term (No.s 9-16)
- the technical devices adopted in latter *śāstric* tradition to avoid controvercies; (No.s 17-20)
- the knowledge representation scheme (*śābdabodha*) (No.s 21-24)

THE DEFINITIONS BASED ON THE ETYMOLOGY OF THE TERM OR ON THE FUNCTIONAL ASPECT OF THE THEORY

2.1.1 : The term *kāraka*[4] is derived from the verbal base *kṛ*- 'to do' with the primary suffix *ṇvul* in the sense of *kartṛ*.[5] Thus, the simple meaning of *kāraka*, as per its etymology, is 'that which does' or 'the doer'. Pāṇini has not defined the term. He has introduced the term with locative case-en-

ding as an *adhikāra* (i.e. section heading) rule.[6] The tradition interprets this rule as an introduction rule, which is self-explanatory.[7] Patañjali says :

> *kārake iti mahatī saṁjñā kriyate ... tatra mahatyāḥ saṁjñāyāḥ karaṇa etat prayojanam anvarthasaṁjñā yathā vijñāyeta. karotīti kārakam iti.*[8]

i.e. '(The term) *kāraka* is coined as a broad designation. Thus, the purpose in coining a broad designation is to understand (the same) as an *anvarthasaṁjñā* (etymologically significant term). Therefore, *kāraka* means 'that which does (an action).'

2.1.2 : Latter on, the school of grammar has undisputedly maintained the definition of *kāraka* as *kriyājanakam kārakam*,[9] i.e. 'that which accomplishes an action is called *kāraka*'. It is note-worthy that though it appears to be a new definition of *kāraka* laid down by the latter grammarians, still, the same idea is expressed in a better logical language. And the same again has been variously stated as :

i. *'kriyānimittatvam kārakatvam'*.

ii. *'kriyānirvartakatvam kārakatvam'*, and so on.

2.1.3 : The significant point of this theory of *kāraka* is that, an entity which accomplishes the action - denoted by the verbal base is called a *kāraka*. There exists an intrinsic relation between the *kāraka* and the *kriyā*. It is said that, an entity is called *kāraka* if and only if, it is involved in the accomplishment of an action. It means, an action promotes an entity to the status of a *kāraka*, only when the latter is engaged in the process of the accomplishment of the former. Thus, it is said : *kriyā ca kārakam karoti*, i.e. 'the action generates the *kāraka*'. It does not mean that a *kāraka* is a product of an action. It is only qualitative manifestation or revelation of an entity in a different role only in accordance with the particular action expressed in the sentence. When we say qualitative manifestation or revelation of an entity in a different role, again we do not mean that, one entity get transformed (*pariṇāma*) into another entity like 'milk' becoming 'curd' or the like. Here, the entity physically remains as it is in the physical world; but only in the linguistic world, it functions differently in the sentence with reference to the other words in the sentence to express a

single idea, and thus, it gets a different designation - we call it a *kāraka*. It is only a relative term with reference to the verbal form. In a nutshell, when the entity accomplishes the action, it is said that : *kriyānirvarttakatvam kārakatvam;* i.e. 'the state of accomplishing an action is the state of being a *kāraka*'. The whole grammatical tradition upholds this theory of *kāraka* and this presents the linguistico-philosophical picture of *kāraka* in brief. Let us see the fundamental nature of *kāraka* as discussed in different schools of Indian studies in general and in the schools of grammatical philosophy in particular.

THE DEFINITION BASED ON THE FUNDAMENTAL NATURE OF *KĀRAKA*

3.1.1 : Patañjali, in his Mahābhāṣya (Mbh.) has tried to investigate the fundamental nature of *kāraka*. He used the term *sādhana* as synonymous with *kāraka* and it is explained as : *sādhyate 'nayā kriyā iti sādhanam kārakam,*[10] i.e.since the action is accomplished with the help of this, it is called *sādhana* or *kāraka*.

3.2.1 : There are two distinct views expressed in the Mbh. of Patañjali; viz. (i) *dravyam kārakam* [11] (i.e. the entity itself is a *kāraka*) and (ii) *guṇaḥ kārakam*[12] (i.e. the potentiality of entity is a *kāraka*).

3.2.2 : As we have already seen that, an entity is called a *kāraka* only when it is engaged in the accomplishment of an action. This view is presented taking the world situation into account. But there is one big problem in upholding this theory. The *dravya* (i.e. an entity) is of fixed nature. It never get effected even when it is engaged in the accomplishment of an action. Thus, it is said that : *na ca dravyasya prakarṣāpakarṣau staḥ*[13], i.e., 'an entity does not enjoy any upgradation or degradation (by its physical nature). It is treated as *siddha-svabhāva*[14] (fixed in nature) and it remains as it is always; i.e., as long as it exists, the physical structure (*svarūpa*) remains the same. Therefore, if the entity as it is, accepted to be a *kāraka* then the problem will be : how to treat one and the same entity playing different *kāraka* - roles in different construction ? We are well acquainted with the fact that each entity can play the role of each and every

kāraka in different constructions. Of course, there is the only governing principle that, the usage should be conventionally accepted in the society or in the particular linguistic community. But this exception is applicable to a few cases only, otherwise, any entity can play the role of any *kāraka* if the speaker desires so - is a universal fact. Let us take the example of one entity playing the role of various *kārakas* in various constructions.[15]

1. *Ratho gacchati*, i.e. 'the cart is goining'.
2. *Ratham paśya*, i.e. 'see the cart'.
3. *Rathena gacchati*, i.e. 'going by a cart'.
4. *Rathāya aśvam āhara*, i.e. 'bring the horse for the cart'.
5. *Rathāt patitaḥ*, i.e. 'fall down from the cart'.
6. *Rathe aśvam yojaya*, i.e. 'yoke the horse in the cart'.

3.2.3 : In all these usages, we find one and the same entity viz. *ratha* (cart) is playing different *kāraka* roles in different constructions in accordance with the accomplishment of different actions. And all these usages are correct and conventionally accepted in the society. Therefore, playing different *kāraka* roles by one and the same entity (*ratha*, in present context) will be difficult to be maintained logically, if it is said that the *dravya* (entity), by its own physical form (*svarūpa*) is a *kāraka*.

3.2.4 : To avoid such problems, the grammarians propound the theory that *śakti* or *guṇa* is to be accepted as the true nature of *kāraka*. What they mean by this is : each and every entity possesses innumerable qualities or potencies. This potenciality should be treated as the true nature of *kāraka*. And one entity may play one *kāraka* role at one time with reference to one particular *kriyā* taking the help of its particular potency. In this way, one and the same entity can play different *kāraka* roles in different contexts in accordance with the accomplishment of different *kriyās*. This is stated in a very simple way by Patañjali in his Mbh. Let us see the dialogue on this issue :

> *"kim punaḥ sādhanam nyāyyam ?*
> *guṇa ity āha.*
> *katham jñāyate ?*
> *evam hi kaścit kañcit pṛcchati : kva devadatta iti ?*
> *sa tasmā ācaṣṭe : asau vṛkṣa iti.*

kararasmin ?
yas tiṣṭhatīti.
sa vṛkṣo'dhikaraṇam bhūtvānyena śabdenābhisambadhyamānaḥ kartā sampadyate. dravye punaḥ sādhane sati yat karma karmaiva syāt, yat karaṇam karaṇam eva, yad adhikaraṇam adhikaraṇam eva."[16]

3.2.5 : In this dialogue, it is quite clear that one and the same *vṛkṣa* (tree) is used as an *adhikaraṇa* (location) in one sentence and as *kartā* in another. Patañjali's remark at the end of this dialogue is very significant. That is ; if the *dravya* (entity) is accepted as the *kāraka*, then if one entity is treated as *karaṇa* (instrument) once, it will remain so for ever; and so also if one entity is treated as *karman* or *adhikaraṇa* for once it will remain so for ever and so on. Therefore, the *guṇa* i.e. the *śakti* (quality or potency) must be considered as the true nature of *kāraka*.

3.3.1 : The same idea has been expounded in greater detail by Bartṛhari in his Vākyapadīya. He says :

"svāśraye samavetānām tadvadevāśrāyantare /
kriyāṇām abhiniṣpattau sāmarthyam sādhanam viduḥ //"
(V.P.III.7.1.)

i.e. 'The potency is called *sādhana* (or *kāraka*) which is able in the accomplishment of the action and which resides in its own substratum and also in the other.'

3.3.2 : Bhartṛhari thinks that, the entity consists of innumerable potencies, and all the potencies remain in the entity always. One of such potentialities arises, as and when the speaker desires so and the entity is prompted to play the particular *kāraka* role on account of the potency. It is further maintained that, all the permanent entities have their potentialities permanently and the potentialities remain wih the transitory entities as long as they exist. The potentialities of such entities arise as and when they come to be. Thus, it convincingly explains the fundamental nature of *kāraka*.

3.4.1 : Though the *śakti* is accepted as the true nature of *kāraka* still, one fact about this must be made clear that it can not get manifested without the help of an entity. In other words, *śakti* can be helpful for the accomplishment of the action only through an entity. And an entity, with the potentiality, must be therefore, treated as a *kāraka*. This view

is known in the school of grammar as *śaktimat kārakam*. *Śakti, guṇa, dharma, arthatattva* or what so ever you may call it, it can not function without the help of an entity, since they are intrinsic properties of entities. In otherwords, an entity can function only when it is possessive of the potency. Therefore, the grammarians try to define the *kāraka* as *śaktimad dravyam kārakam,*[17] i.e. 'an entity endowed with the potency is called a *kāraka*.'

3.5.1 : But the whole theory (viz. *śaktiḥ kārakam* or *śaktimat kārakam*) is not tenable to the Naiyāyikas. They outrightly reject this theory, because *śakti* is not accepted as a separate *padārtha* (entity) in the school of Nyāya philosophy. They argue that if the *arthatattva* (very nature of an entity) would be unable to accomplish the action, then only assumption of some such power or potency - which is beyond any sense-perception - holds good. But, when we find that an entity, with the help of its auxiliaries is able to accomplish an action, why to take trouble in assuming something fantastic ?[18]

3.5.2 : Moreover, they further say that, what could be the nature of this *śakti* ? Whether it is to be assumed as permanent or temporal ? If it is accepted as permanent, then there would be production of the action permanently, i.e. the process will be unending. And if it is accepted as temporal, then also, since they (the grammarians) maintain that it (*śakti*) remains with the entity as long as the entity exists, there would be the production of the action permanently (i.e. unending) again. Therefore, the Naiyāyikas propose the theory that, the *svarūpa* of the entity only is to be accepted as the *kāraka* and with the help of the auxiliaries it accomplishes the action.[19]

3.6.1 : But the grammarians do not agree with the theory of the Naiyāyikas. They say, how to define the *svarūpa* of an entity or even what does signify the term *arthatattva* ? It is not definitely a synonym of the *dravya* or *artha* (entity). The term *svarūpa* again would be an ambiguous term in this context. If it is defined as the essential nature of an entity, then it means finally the same thing, as that of the grammarians' *śakti*. Therefore, Bhojarāja in his Sṛṅgāraprakāśa says that : the *svarūpa, guṇa, dharma, arthatat-*

tva, arthakriyākāritva, sāmarthya & śakti etc. are synonymous and they indicate one and the same fact only.[20]

3.6.2 : Thus, in our judgement, the grammarians' arguments on this issue looks more logical and convincing. Therefore, the essential nature of *kāraka* must be accepted as : *śaktiḥ kārakam* or *śaktimat kārakam.*

THE DEFINITION BASED ON THE RELATIONAL ASPECT OF THE TERM

4.1.1 : The school of Nyāya philosophy, defines the *kāraka* as : *kriyānvayitvam kārakatvam.* It means, as we know all about the universal fact that, the nominal form or the noun phrase (NP) has a syntactic relation with the verb or verbal phrase (VP); and on this basis the *kāraka* is defined in terms of its relation with the verb. *Kāraka* is a relative term. It means, there exists an indissoluble relation between the *kriyā* and the *kāraka*, which make up the sentence. The very nucleus notion of a sentence is the syntactic relation between the *kriyā* and *kāraka*. Their mutual expectancy only gives life to a sentence; otherwise, there would have been a list of words only. A string of words - without mutual expectancy - would not make a sentence., It also can not convey any sense, just like : *gauḥ, aśvaḥ, puruṣao, hastiḥ* and so on. This fact was realised in a very early time in the traditional linguistic schools in India. The sentence is defined in accordance with this notion. Jagadīśa, an exponent of the school of Navya Nyāya gives the definition of *vākya* (sentence) as : *mithaḥ sākāṅkṣaśabdasya vyūho vākyam,*[21] i.e. ' A group of words having mutual expectancy is called a sentence.' We find the approval of this view in many branches of Indological studies. Well, the point is : What is this *ākāṅkṣā* ? Śālikanātha in his Vākyārthamātṛkāvṛtti gives a nice dialogue on this question. Let us see it :

> *"kā punar iyam ākāṅkṣā ?*
> *prattipattur jijñāsā*
> *kim nibandhanā punar asau ?*
> *avinābhāvanibandhaneti kecit.*
> *kriyā hi kārakāvinābhavinīti tām pratītya*
> *kārakam jijñāsate.*

evam kārakam api buddhvā kriyām iti."[22]

i.e. 'What is this *ākāṅkṣā* (expectancy) again ?

It is the cogniser's desire to know. What is its potentiality ? Some say, its potentiality is non-incompatible existance. Since, the *kriyā* (action) is compatible with the *kāraka*, and hence, after knowing the action, one expects to know the *kāraka*. So also after knowing the *kāraka* one desires to know the *kriyā*'.

4.1.2 : This dialogue justifies the mutual expectancy between the *kriyā* and *kāraka.*[23] Thus, this we can call it as syntactic expectancy is the nucleus in the sentence. This syntactic expectancy is viewed differently in different *śāstras;* as to whether this exists amongst the words in the sentence or in the word-sense or in the mind of the speaker (or in his soul) ?[24] Here we need not enter into the philosophical dispute, but our intention is to highlight the relational aspect with reference to the syntactic expectancy. From a pure linguistic approach, we see that the syntactic expectancy is nothing but noun-verb-relationship. This is the central idea, on which the Naiyāyikas proclaim the definition of *kāraka* as : *kriyānvayitvam kārakatvam.*

4.2.1 : Vācaspati Mishra in his Nyāya-Vārttika-Tātparya-Ṭīkā (NVTT.) says : *"pradhānakriyāsādhane hetau avāntarakriyāviśeṣayukte kārakaśabdaḥ pravartate,"*[25] i.e. 'the term *kāraka* is applied to that which is involved in its auxiliary activity that leads the accomplishment of the main action.'

4.2.2 : Let us take an example to explain how the auxiliary action of an entity helps to accomplish the main action.

1. 'John types a letter with his typewriter.'

Here, 'John' is the agent, 'a letter' is object and the 'typewriter' is the instrument; and all *kārakas* in accordance with the accomplishment of the action 'typing'. Each of these *kārakas* is involved in some or other action (different from the main action), which are called 'auxiliary actions' - that accomplish the main action, viz. typing. The auxiliary actions of the typewriter (the *karaṇa*) are its movements i.e. the movement of the keys and their striking on the paper on the roller and so on. Such movement of the keys and

their striking etc. are treated in *śāstras* as *avāntaravyāpāra* (auxiliary action). And if we observe closely, we can notice similar auxiliary actions with each and every *kāraka*, which togather lead to the accomplishment of the main action. Here, Vācaspati Miśra defines the *kāraka* after a close observation of this process. This factual observation is a universal truth and it can not be denied in any schools of thought. And thus, we find the same view expressed by Bhartṛhari also in his Vākyapadīya. He says :

"Yena yuktā kriyā bhāti tat kārakam itīryate."[26]

This *kriyā-yoga*[27] is explained at a letter stage as *kriyānvaya* or *kriyā-saṁsarga*, i.e. syntactic relation with the action.

4.3.1 : The outstanding question in this context -- which perhaps troubled the oriental thinkers is : How this relationship established between the *kriyā* and *kāraka* ? Jayanta Bhaṭṭa says:

> *"saṁsargo 'pi kārakāṇām kriyāgarbha eva bhavati. tad anabhyūpagamyamane kim adhikṛtya kārakāṇi saṁsṛjyeran ? na ca asmsṛṣṭāni tāni phalavanti,"*[28] i.e. 'The syntactic relation of the *kārakas* is (established) through the (auxiliary) actions only. If this is not accepted then on what basis the *kārakas* get related ? The *kārakas* can not accomplish the effect being unrelated.'

4.3.2 : There is another theory on the syntactic relation between *kriyā* and *kāraka*, which claims that the relationship is established through the meanings of the case-endings. For instance :

1. *ghaṭam karoti*, i.e. 'He/She makes a pot,'
2. *grāmam gacchati*, i.e. 'He/She goes to the village.'

Here the grammatical justification is given as :

1a. *ghaṭa + am + kṛ + ti*, and

2a. *grāma + am + gam + ti*.

Here, we know from the grammar that the *ghaṭa* (pot) in 1. or *grāma* (village) in 2. are the *karmakāraka* (object) with reference to the action expressed by *kṛ* - 'to do' and *gam* - 'to go'. But only the *ghaṭa* (the *prātipadika*, i.e. the nominal stem) will not be able to express its state of being an object. It is the accusative case-ending *am* expresses its objecthood

and thus, Pāṇini teaches that, when the object is otherwise not expressed, the second triplet in the group of *sup*-suffixes (*dvitīyā-vibhakti*) is to be added to the nominal stem to express the *karman* (object). Therefore, the nominal case-endings express the *kārakatva* of the nominal stem.

4.3.3 : Taking this point into consideration, Bhavānanda Siddhānta-vāgīśa defines the kāraka as : *"vibhaktyarthadvārākriyānvayitvam mukhya-bhākta-sādhāraṇakārakatvam,"*[29] i.e. 'the state of being the main and subordinate *kāraka* is that the state of being the relatum of the action through the sense of the case-markers.'

4.3.4 : The same idea has been expressed by Jayarām Bhaṭṭācārya in his Kāraka-Vādārtha[30] and Nāgeśa Bhaṭṭa in his Vaiyākaraṇa Siddhānta Mañjūṣā[31] also.

4.4.1 : The concept of the *kriyā-kāraka* relationship is more philosophised latter on. It is argued that, since the case-markers which actually express the *kārakatva* are the real denotators of the *kāraka* relation. In other words, the meaning of the case-ending is the promotor of the nominal stem to the status of the *kārakatva*, which, otherwise, expresses merely the worldly object or entity. Therefore, the *kārakatva* of the sense of the case-markers must be justified. On the other hand, when somebody says : *ghaṭam karoti*, we understand that the pot is the product of the action and thus it is the *karman*. Therefore, the *kārakatva* of the pot--the sense of the nominal stem also - is to be justified.

4.4.2 : This argument shows that both the linguistic elements viz. the nominal stem and the case-marker claim to be enjoying the state of being a *kāraka*. This dispute is settled by the Naiyāyikas in a compromising way, that the sense of the nominal stem has the intrinsic property to be a *kāraka* and the sense of the case-ending expresses or denotes the *kārakatva* of the nominal stem. But some scholars feel it appropriate to define the *kāraka* in a way that this dispute does not arise at all and both of them can enjoy the state of being *kāraka*. The definition goes as :

> *"dhātvarthānvitasubarthatvam kārakatvam vibhaktyarthasya, vibhaktyarthadvārakakriyānvayitvam kārakatvam vibhaktiprakṛtyarthasya;"*[32] i.e., 'the state of being the *kāraka* of the sense of the case-ending

is (defined as) the state of being the sense of the case-markers related with the sense of the verbal-base, (so also) the state of being a *kāraka* of the sense of the stem of the nominal suffix is (defined) as the state of being the relatum of the action through sense of the case-endings.'

By this definition, the *kārakatva* of the sense of the nominal stem as well as the case-ending is justified.

4.4.3 : But even to the tradition, this definition was not acceptable. They say, in the expression like :

kāntasya traśyati, i.e., 'afraid of the husband',

the sense of the nominal stem viz. *kānta*, according to this definition, can enjoy the state of being a *kāraka*, which is not tenable. Because, the sixth case-ending is only expressive of the non-*kāraka*-relation. On this issue, the Naiyāyikas' position seems to be logical. Therefore, the relational aspect of the *kāraka* is upheld and they define the *kāraka* only on that basis, ignoring its other significant properties. This definition of *kāraka* is widely accepted in almost all the schools of Indian linguistic tradition.

THE DEFINITION BASED ON THE TECHNICAL DEVICES ADOPTED IN *ŚĀSTRIC* TRADITION

5.1.1 : The scientific justification on each and every theoritical problem developed in the middle period of Indian *Śāstric* tradition. The Navya-Nyāya tradition has contributed a lot of significant scientific devices to settle many logical and ontological problems. Above all, the typical language-- we call it an artificial language -- Sanskrit was also used in each and every school of thought to prove the validity of their stand. Therefore, both the artificial language and the technicial devices are noteworthy in *śāstric* studies. Here also in defining the *kāraka*, such language and similar technical devices were used to present the theory unambiguously. The purport of adopting such devices was to avoid the criticisms of the opponents. This was also considered as a systematic procedure to present the theory which technically sounds logical. Let us examine a few such definitions of *kāraka* and investigate their validity.

5.2.1 : Bhavānanda in his Kārakacakra defines the *kāraka*,

at the end of the section as : "*kartṛtva-karmatvādi ṣaṭkānyatamatve sati kriyānvayitvam kārakatvam*"[33], i.e. the state of being the relatum of the action is called *kārakatva* which again is one amongst the six like *kartṛtva* and *karmatva* and so on.'

5.2.2 : Here the main point is the same as discussed in (4.3.3.) and it is nothing but the relatum is called *kāraka* if and only if it is a member of the conventionally accepted '*kāraka* class'. This is a very logical way of defining the *kāraka* and by this definition one can avoid the objection raised in (4.4.3).

5.3.1 : On this basis, someone has defined the *kāraka* as: "*apādānādyanyatamatvam kārakatvam,*"[34] i.e. 'that which is one amongst the *apādāna* etc. is called a *kāraka*.' It means, the *kārakatva* property belongs to each and every member of the *kāraka*-class which consists of six in number starting from *apādana* etc.

5.3.2. : The word *anyatamatva* is again explained as : *bhedakūṭā-vacchinna pratiyogitākabhedavattvam*, i.e. 'that which is possessive of the distinction described by the counter-positiveness which is being delimitted by the distinguished class'. Look at the figure :

kartṛ	*b*	— *avacchinna* →	*pratiyogitā*
karman	*h*		
karaṇa	*e*		
sampradāna	*d*		
apādāna	*a*	← *bhedavān*	
	k		
adhikaraṇa	*ū*		*ṣaṣṭhyarthādiḥ*
	ṭ		
(kārakacakra)	*a*		*(pratiyogin)*

Fig. 1

Here the *kartṛ, karman* etc. the *kārakacakra* (*kāraka* class) make up the *bhedakūṭa*, which is the delimitor of the *pratiyogitā* i.e. the counterpositiveness, which resides in the *pratiyogin*, i.e. the counterpositive and with reference to the *pratiyogī* (counterpositive) the *bhedakūṭa* is distinguished by

its *bheda* (i.e. the *abhāva* absence, or distinction).

5.3.3 : Let us take another example. Suppose, the vehicle-class is consist of only three members like 'car, bus, and scooter'. In this situation, if some one wants to define the 'vehicle', he can very well do so sayings, that which is one amongst the class consist of car, bus & scooter, which is distinct from all that are the counter-positive of this class and which is again the delimitor of the counter-positiveness, resides in the counterpositive.

5.3.4 : *Anyatamatva* is otherwise also defined as : *tadbhinna-bhinnatvam*, i.e. 'distinguished one which is distinct from all other differentiated (objects).'

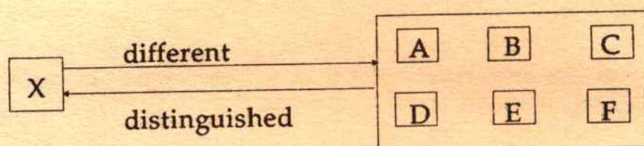


Fig. 2

Here, 'X' is the distinguished one which is distinct from all the objects like A,B,C,D,E,F, which are differentiated from it viz. 'X'. This explanation is also applicable to the *kāraka* definition described in 5.3.1 & 2.

5.4.1 : Nāgeśa defines the *kāraka* in a similar but different device. He says : "*saṁketaviśeṣasambandhena kārakaśabdavattvam kārakatvam*"[35] i.e. 'it is called the state of being a *kāraka* which is designated by the term *kāraka* through the relation of technical designation (used by Pāṇini).' What Nāgeśa means here is that, only those which are technically designated by Pāṇini as *apādāna* etc., under the section heading rule *kārake (P.1.4.23), are to be considered as kārakas* nothing more or nothing less. It is quite clear that this device was used just to present the definition unambiguously; but this does not say anything about the true nature of *kāraka*.

5.5.1 : Let us see another technical device used to represent the *kāraka* definition. This reads as : "*dhātvarthānavayāyogyatvam śeṣatvam, śeṣabhinnatvam kārakatvam.*"[36] i.e. 'the state being *śeṣa* (viz. *ṣaṣṭhī*) is that which does not possess the ability to get related with the

sense of the verbal-base; and which is different from *śeṣa* is called *kārakatva*. See the fig. 3 :

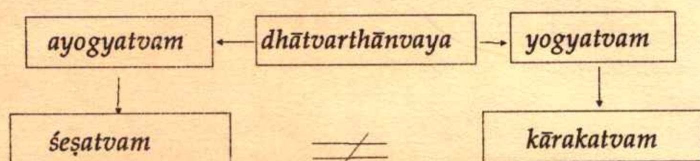


Fig. 3

5.5.2 : Though, this is an intelligent device to define the *kāraka*, still it suffers from a logical deficiency viz. *anyonyāśrayadoṣa* (i.e. the defect of mutual dependency). That is, if one wants to know what is *kāraka* he should know prior to that what is *śeṣa;* and *śeṣatvam* is defined as *dhātvarthānvayāyogatvam*. To know what is *dhātvarthānvaya-yogyatvam* one should know what is *dhātvarthānvaya-yogyatvam*. Thereafter, one knows the *śeṣatvam* and then he has to know the *kārakatvam* as different from it. This is what the mutual dependency, and a definition can not be accepted which is defective.

5.6.1 : These *kāraka* definitions (5.1.1 - 5.5.2) are not appreciated because, they neither state any definite nature of the *kāraka* nor free from all defects also. Though we can appreciate the logical tricks adopted to set aside the opponents' views or criticisms, still it can not be claimed that with the help of such devices, the *kāraka* definition is presented unambiguously.

THE DEFINITIONS BASED ON THE KNOWLEDGE REPRESENTATION SCHEME

6.1.1 : Here we will use term 'Knowledge Representation Scheme' (KRS) to mean only *śābdabodha*[37] in Indian *śāstric* tradition, but not that of the Artificial Intelligence (AI.) in Computer Science. We use the same term, it is because the processes and techniques of these two systems are very close.

6.2.1 : In the mediaeval period of *śāstric* tradition, some scholars have tried to define the *kāraka* with the help of the

śābdabodha technique. Jagadīśa Tarkālaṅkāra, the author of *Śabdaśakti-prakāśikā* defines *kāraka* as follows : "*dhātvarthāṁśe prakāro yaḥ subarthaḥ so 'tra kārakam.*"[38] Before we explain the definition, it should be noted that in the KRS, the word-senses are presented in qualifier-qualificand model and one of the *padārthas* is treated as the chief qualificand. Keeping this theory in mind, Jagadīśa says : the sense of the nominal suffix which appears as the qualifier to the sense of the verbal base is called *kāraka*. In other words, he clarifies his view that : *kriyāprakārībhūto 'rthaḥ kārakam,*[39] i.e. 'the entity / word-sense, which is the qualifier to the action (*kriyā*) is called *kāraka*.

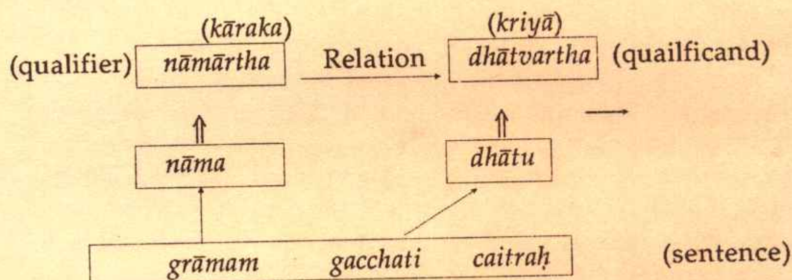


Fig. 4

6.2.2 : This definition states the *kārakatva* of the nominal-suffix. As we have already seen that the nominal suffix only expresses the *kārakatva* of the nominal stem (see 4.3.1 & 2) and thus, that should be justified through the KRS. To

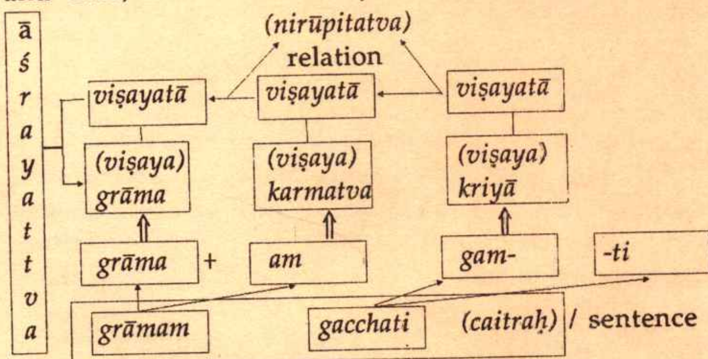


Fig. 5

present the same idea, the *kārakatva* is redefined as : *"kriyāviṣayatānirūpita-vibhaktyarthaviṣayatānirūpita-viṣayatāśr -ayatvam kārakatvam."*[40] Let us explain this definition with the help of the *śābdabodha* of a simple sentence.

'grāmam gacchati (caitraḥ), i.e. (Chaitra) goes to village. See the fig. 5.

6.2.3 : Here, all the word-senses like *grāma, karmatva* and *kriyā* are the contents of the knowledge that is represented to the mind through this sentence. Each content (*viṣaya*) possesses its intrinsic quality called contentness (*viṣayatā*). And all these contentnesses get related one another with the help of the relation called *nirūpakatā* (describerness). Starting from the *kriyāviṣayatā* to the *grāmaviṣayatā*, each *viṣayatā* is related with the next proximate *viṣayatā* through the *nirūpakatā* and the last *viṣayatā* viz. the *grāmaniṣṭhaviṣayatā* obviously resides in its substratum viz. the *grāma* and thus it is a *kāraka* (viz. *karman*). In this way, with reference to each and every *kāraka*, this definition could be applicable. Under this scheme, the other definitions (No. 23 & 24 in the index) can be explained well. They present more clear and distinct picture of *kāraka* on the basis of KRS. But under this scheme also, the true nature of *kāraka* is not revealed and thus we can't appreciate this methodology to define the *kāraka*.

A CRITIQUE

7.1.1 : To our judgement, we have to take resort to the theories presented in the three earlier sections (2. 1. 1 to 4. 3.3) and the logical and ontological characteristics of the *kāraka* presented there. But as we have seen that there is a lot of controversies in those proposed theories. Each in its own dimention seems to be correct. The relational aspect of the *kāraka*, the functional aspect and its fundamental or logical and ontological aspect of the *kāraka* are all true and valid in their own arena. How to justify all of them and how to come to a consensuss ? Moreover, the consensuss must be acceptable to the tradition and it should keep balance with the syntactic notions of Modern linguistics.

7.1.2 : To my mind, this can be achieved, if we try to investigate into the matter with an interdisciplinary ap-

proach and a deeper insight to the *śāstric* tradition. I hereby, propsoe such an approach which, to my mind, would be acceptable to the tradition also.

7.2.1 : Let us first of all consider the functional as well as relational aspect of *kāraka* together propose one single *kāraka* definition - but not two distinct theories as accepted in the traditional schools of Grammar and Nyāya and these two aspects of *kāraka* should be considered as the two sides of one and the same coin. I mean, functional and relational aspects of *kāraka* could be treated as the *taṭastha-lakṣaṇa* of *kāraka*. What does this *taṭastha-lakṣaṇa* stand for ? The great Sanskrit Dictionary *Vācaspatyam* defines the *taṭastha-lakṣaṇa* as *"yāval lakṣakālam anavasthitatve sati yad vyāvartakam tat taṭasthalakṣaṇam,"*[41] i.e. 'that which does not exists with the *lakṣya* (to be defined) for whole the period, and which is the distinguisher (of the *lakṣya* from all other entities) is called the *taṭasthalakṣaṇa*. The tradition gives the example as : *'gandhavattvam pṛthivyāḥ taṭastha-lakṣaṇam'*, i.e. 'the state of posessive of the smell is called the *taṭastha-lakṣaṇa* of *pṛthivī* (the earth). It is maintained in the tradition that at the time of the creation, the earth is born without the smell but in the next moment onwards, it gets its intrinsic qualities like smell etc. There is an universal law accepted in the *śāstric* tradition that : *'utpannam dravyam kṣaṇam nirguṇam niṣkriyam ca tiṣṭhatīti'*, i.e. '(at the time of creation) when an entity is born, it remains without any quality and inactive for a while'. It means that the quality does not exist with the entity as long as the entity exists. In the school Vedānta also, the creativity and destuctivity etc. the potentialities of Brahman - are treated as His *taṭastha-lakṣaṇa*.[42] It is because, after the destruction of the world, Brahman remains with His *sva-svarūpa* alone, without any activities. This means, the creativity etc. do not remain with Him always and thus, such characteristics of Brahman are treated as His *taṭastha-lakṣaṇa*.

7.2.2 : In the same way, the functional aspect as well as the relational aspect of *kāraka*, which make an entity to play a *kāraka*-role inaccordance with the accomplishment of an action, does not remain with the entity permanently. After the accomplishment of the action the entity resumes

its formal features only, without the same *kāraka*-role. Thus, the functional aspect is only temporal with the entity with reference to the accomplishment of the action. And thus, it could be treated as the *taṭastha-lakṣaṇa* of *kāraka*. The relational aspect of *kāraka* refers to its syntactic role in the sentence only.

7.2.3 : It should not be objected that : How to bring these two contradictory aspects to one single definition ? Since, the functional aspect is highlighted in the school of grammar whereas the relational aspect in the school of Nyāya. To this objection, our reply will be, these two aspects of *kāraka* are not contradictories to each other. On the other hand, they are complementaries to each other. As I have said, they are as if two sides of one and the same coin. Even in the tradition, this fact was recognised at a very early time. Vācaspati Miśra,[43] Bhavānanda Siddhāntavāgīśa,[44] Nāgeśa Bhaṭṭa[45] and many others define the *kāraka*, taking these two aspects into account. Therefore, the functional and relational aspects of *kāraka* must be treated as its *taṭastha-lakṣaṇa*. Thus, we can reconstrue the definition as :

'kriyānvayitve sati kriyā-nirvartakattvam kārakattvam !.

7.2.4 : This definition again must be qualified with the phrase *'vibhaktyādyarthadvārā'*, i.e. '(the syntactic relation should be expressed) through the meanings of the case-endings and the like'. Bhartṛhari says :

> *svaśabdair abhidhāne tu sa dharmo nābhidhīyate /*
> *vibhaktyādibhir evāsav upakāraḥ pratīyate //*[46]
>
> i.e. 'but by mentioning it through its own terminologies, that property / potentiality is not expressed. The complementation is cognised only with the help of the case-endings and the like'.

Bhavānanda writes only *vibhaktyarthadvārā* (see No.III.13), but it should be interpreted as *lākṣaṇika-prayoga* (secondary usage). Because many other linguistic elements also express the *kāraka* property, which could not be left out. They are ; for instance : *tiṅ* (verbal suffixes), *kṛt* (primary sufixes), *taddhita* (secondary suffixes), *samāsa* (compound) and even *nipāta* (indeclinable) etc. Thus, this proposed definition of *kāraka* would be :

'vibhaktyādyarthadvārā-kriyānvayitve sati kriyānirvartakatvam kārakatvam'.

7.3.1 : There still remains one issue yet to be settled. That is, how to account for the grammatico-philosophical theory viz. : *śaktiḥ kārakam* or *śaktimat kārakám* as discussed in 3.1.1. to 3.6.2. To this question, our reply will be : treat this definition of *kāraka* as its *svarūpa-lakṣaṇa*. In the school of Vedānta, the *Satyam* (Truth), *Jñānam* (Knowledge), *Anantam* (Infinity) etc. are taken as the *svarūpa-lakṣaṇa* of Brahman. Because, these are the very nature of Brahman, as proclaimed in the Upaniṣads. So also, we can very well justify that, the *śakti* (potenciality) is the essential nature of *kāraka*. The potenciality remains with the entity permanently and as the when it is desired to be expressed in a particular *kāraka*-role, it appears so in the sentence. Patañjali, Bhartṛhari and many others in the school of grammar propound this theory. And, therefore, it is just suggested here to consider the *śakti* as the *svarūpa-lakṣaṇa* of *kāraka*.

THE CONCLUSION

8.1.1 : Therefore, taking the whole discussion into account, we again recontrue the *kāraka* definition as follows :

> *'vibhaktyādyarthadvārā kriyānvayitve sati kriyājanaka-śaktimattvam kārakattvam'*, i.e. 'that is called *kārakatva* which is possessive of the potentiality in accordance with the accomplishment of the mair action, which is again the relatum of the action through the sense of the nominal case-endings and the like.'

INDEX I : THE LIST OF *KĀRAKA* DEFINITIONS :

I.1: *kṛ + ṇvul* = kāraka (P.3.4.67 & 3.1.133).

I.2: *kriyājanakatvam / nirvartakatvam / nimittatvam kārakatvam* (cf. Mbh. on P.1.4.23)

I.3: *kriyājanakayogyatā-buddhiviṣayatvam kārakatvam* (cf. V.P. III.7.3).

II.4: *dravyam kārakam (cf. dravyam kriyābhinirvṛttau sādhanatvam upaiti /* - Mbh. Vol. II p. 57 and also p. 414).

II.5: *guṇaḥ kārakam, śaktiḥ / sāmarthyam kārakam* (cf. Mbh. Vol. I. p.442 & V.P. III.7.1)

II.6: *svāśraye samavetānām tad vad evāśrāyantare / kriyāṇām abhiniṣpattau sāmarthyam sādhanam viduḥ //* (V.P.III.7.1)

II.7: *yad yadā yad anugrāhi tat tadā tatra sādhanam* (Hel. on V.P. III.7. 15)

II.8: *yadapekṣayā yat siddham tat tasya sādhanam niṣpādakam kārakam bhavati* (Hel. on V.P. III.7.16-17)

III.9: *pradhānakriyāsādhane hetāv avāntarakriyāviśeṣayukte kārakaśabdaḥ pravartate* (NVTT. p.37)

III.10: *yena yuktā kriyā bhāti tat kārakam itīryate* (V.P. II.26)

III.11: *yat kriyāyogi tad vastu kārakam parikīrttyate* (V.P. II.28)

III.12: *kārakatvena saṁkhyātam yat kartṛkaraṇādikam / tat kriyādvārakatayā sā ca ṣaṇṇām hi vidyate //* (V.P. III.7.52)

III.13: *vibhaktyarthadvārākriyānvayitvam mukhyabhākta-sādhāraṇam kārakatvam* (Kārakacakram - p.3)

III.14: *kriyānvitavibhaktyarthānvitatvam kārakatvam* (Kārakavādārtha).

III.15: *kriyānvitapratyayāthānvayitvam kārakatvam* (VSM. p.118)

III.16 : *dhātvarthānvitasubarthatvam kārakatvam vibhaktyarthasya, vibhatktyarthadvārkatayā kriyānvayitvam kārakatvam vibhakti-prakṛtyarthasya.* (Quoted in Pradīpa on KC. p.2)

IV.17: *kartṛtva-karmatvādiṣaṭkānyatamatve sati kriyānvayitvam kārakatvam* (KC. p.7)

IV.18: *pādānādyanyatamatvam kārakatvam* (Pradīpa on KC. p.2).

IV.19: *dhātvarthānvayāyogyatvam śeṣatvam, śeṣabhinnatvam kārakatvam.* (Pradīpa on KC.)

IV.20: *saṁketaviśeṣasambandhena kārakaśabdavattvam kārakatvam* (VSM. p.119)

V.21: *dhātvarthāṁśe prakāro yaḥ subarthaḥ so 'tra kārakam,* (SSP. *kārika.* 67) OR *kriyāprakarībhūto 'rthaḥ kārakam.* (SSP. p.295)

V.22: *kriyāviṣayatānirūpitavibhaktyarthviṣayatānirūpita-viṣayatāśrayatvam.* (Mādhavī on KC. p.5)

V.23: *kriyāniṣṭhaviśeṣyatānirūpitaprakāratāsāmānādhikaraṇa-v*

iśeṣyatānirūpitābhedasambandhāvacchinnap-rakāratāśray atvam kārakatvam
(an extention on No. V. 22.).

V.24: *nāmārthānvayaprayojakatānavacchedakībhūtakriyāvacch edaka-dharmavattve sati padāntarāsamabhivyāhṛtasubarthatvam kārakatvam.*
(Pradīpa on KC.).

V.25: *vibhaktyādyarthadvārākriyānvayitve sati kriyānirvartaka-śaktimattvam kārakatvam.* (Our reconstruction).

NOTES AND REFERENCES

1. Hock, H.H., Research on Sanskrit Syntax, New Horizen of Research, ed. by V.N. Jha, University of Poona, Poona. 1989.
2. Hock., H.H., *ibid.*, 1989, p.7.
3. I am greatly indebted to my revered GURUJI - Pt. T.S. Srinivasa Shastriji, who was kind enough to teach me the *śāstras* in general and on *Kāraka* theory in particular, while I was in Poona (1981 - 1990). I learned the *śāstric* techniques from him and this paper is an out-come of extensive discussion on this subject with him.
4. I have not translated the term *kāraka* here. It is popularly translated as 'case' in English. The term 'case' is derived from the Latin word *'casus'* meaning 'falling' or 'deviation'. Lyons, John says : "Whatever might be the precise metaphorical origin of the technical sense of the term, in grammatical theory (and there is some dispute about this), it is clear that variation in the forms of a lexeme according to the syntax of the language was regarded as deviation from its normal 'upright' form". See Lyons John, Introduction to Theoritical Linguistics, Cambridge University Press, 1968 (First Pub.) Reprint. 1972. p.289.
   This remarks of Lyons proves the disputes in Western world. But in Indian *Śāstric* tradition, it is still more controvertial as we will see in this paper. Therefore, the term 'case' is inefficient to express the same idea as denoted by *'kāraka'* and thus, we will use the term

kāraka only, through out this paper.

5. see P. 3.4.67, and P. 3.1.133.
6. see P.1.4.23.
7. see also on the controvercies, whether the aphorism P.1.4.23 is a section heading rule or a rule for introducing the technical term (*saṁjñā*) : Joshi, S.D. and Roodbergen, J.A.F., Patañjali's Vyākaraṇa Mahābhāṣya, Kārakāhnika (KARA.), Publication of Centre of Advanced Study in Sanskrit (PCASS.) University of Poona. Class - C, No.10, Poona, 1980, p.11.
8. See, Vyākaraṇa Mahābhāṣya (Mbh.) ed. F. Kielhorn, Fourth edition, Bhandarkar Oriental Research Institute, (BORI), Poona, 1985
9. See Pradīpa on Mbh. on P.1.4.23.
10. Cf. Helārāja (Hel.) on V.P. III. 7.1.
11. Cf. (i) : *dravyam kriyābhinirvṛttau sādhanatvam upaiti*, Mbh. on P. 3.1.67.
    (ii) *sādhanam vai dravyam, na ca dravyasya prakarṣāpakarṣau staḥ*, Mbh. on P. 5.3.55.
12. "*guṇaḥ sādhanam*", Mbh. on P. 3.2.115. cf. also Hel. on V.P. III.7.1.
13. See Mbh. on P. 5.3.55 (See Note II (ii) also)
14. cf. *nimittabhāvo bhāvānām upakārārtham āśritaḥ /*
    natir āvarjanetyevam siddhaḥ sādhanam iṣyate // V.P. III. 7.14. See also Hel. it.
15. cf. "*tenānekaśakter api padārthasya sadaiva tathāvasthāne-'pi kācicchaktiḥ kvacid udbhūtā vivakṣate iti 'ghaṭam paśya', ghaṭenodakam ānya, ghaṭe udakam nidhehi ityādi karmakaraṇādibhāvo niyamenopapadyate iti na kārakasāmkaryaprasaṁgaḥ.*
    Hel. on V.P., III. 7.2.
16. Mbh., Vol. I. p. 442.
17. cf. V.P., III. 7.9 and Hel. on that.
18. cf. Nyāyamañjarī (NM.) by Jayanta Bhaṭṭa, Kashi Sanskrit Series (KSS.) No. 106 The Chaukhamba Sanskrit Series Office (CSSO.), Varanasi, 1936, p.17.
19. cf. NM., ibid. p.39.
20. Śṛngāra Prakāśa (SP.) by Bhojarāja, Vol.I. ed. by G.R. Josyer, Mysore, 1955, p.198.

21. Śabdaśaktiprakāśikā (SSP.) by Jagadīśa Tarkālaṅkāra, KSS. No. 109 CSSO. Varanasi, 1934, p.63.
22. Vākyārthamātṛkāvṛtti, by Śālikanātha, CSS. No. 17, Varanasi, 1904, p.5.
23. K. Kunjuni Raja remarks on this issue that : "The Mīmāṁsakas are quite clear in distinguishing between syntactic expectancy and psychological expectancy, and Bhartṛhari actually criticizes their definition of a sentence on the ground that its *ākāṅkṣā* would imply that a passage of several grammatical 'sentences' would have to be considered as one sentence."
See : Indian Theories of Meanings, by K.K. Raja, The Adyar library and Research Centre, Adyar, Madras, 1963, p.157-158.
Quite justifiably it could be asserted that the *ākāṅkṣā* is variously defined in *śāstras* and a serious examination of its definitions would reveal that they are contradictories to one another. But, we want to focus only on its syntactic role in a sentence here. It should not be taken psychological or otherwise.
24. see : Tarkabhāṣā (Śabdaprakaraṇa) by Keśava Miśra, CS Samsthanam, Varanasi, 1982, (Third edn.) pp.108-109.
25. see NVTT. of Vācaspati Miśra, Mithila Institute Series, Ancient Text No. 20, Vol. I, Ch. I, ed. by Anantalal Thakur, 1967, p.37.
26. V.P., II. 26.
27. cf. (i) "*kriyāyoganibandhana kārakabhāvaḥ,*";
(ii) "*kriyāveśakṛtam hi kārakatvam*", NM. opcit. pp. 46-47.
28. see NM., ibid. p.43.
29. see Kārakacakram (KC.) by Bhavānanda Siddhāntavāgīśa, HSS. No. 154, CSSO. Varanasi, 1942, p.3.
30. see Index 1, No.III.14.
31. see Index 1, No. III.15.
32. see Index 1, No. III.16.
33. see KC. ibid. p.7.
34. see Index 1, No. IV.18.
35. see VSM. p.119.

36. see Pradīpa on KC., ibid. p.2.
37. see on the formal presentation of the *śābdaboh* techniques : Dash, A., "Kāraka Theory for Knowledge Representation", SAMBHĀṢĀ, Vol.13, Department of Indian Philosophy, University of Nagoya, Japan, 1992.
38. SSP., opcit., p.249 (*kārikā 67)*
39. SSP., *ibid.*, p.295.
40. seę Mādhavī on KC., opcit., p.5.
41. see Vācaspatyam, pp.3203-4.
42. see Brahma Sūtra Bhāṣya of Śaṅkarācārya on sūtra 1.1.2.
43. see *"tatkriyānimittatve sati tatkriyānvayitvam tatkriyākārakatvam"*, NVTT., opcit.
44. see *"vibhaktyarthadvārā kriyānvayitvam mukhyabhāktasādharaṇam kārakatvam kryānimittatva sahitam mukhyam iti"*. KC., opcit. p.5.
45. see *"kriyānvitavibhaktyarthānvayitvam kriyānirvarttakatvam vā kārakatvam"*, Pradīpa on Udyota on Mbh., VOl. i. 1967. p.242.
46. V.P., III. 7. 13.

14

पालि तिपिटक में भाषा का महत्त्व : एक स्मरणीय प्रसंग

स्व. डॉ. प्रतापचंद्र

मानव संप्रेषण की प्रक्रिया तथा उसकी अनिवार्य पूर्वमान्यताओं का सायास एवं आत्म-चेतन विश्लेषण आधुनिक युग की उपलब्धि समझी जाती है। इस प्रक्रिया में भाषा का स्थान आधारभूत है । संप्रेषण-अध्येता तथा भाषा-वैज्ञानिक समान रूप से इस तथ्य से अवगत हैं कि द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण से अनवरत विचारणा में अक्षमता सम्प्रेषण-परिस्थिति के पूर्ण विश्लेषण के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है । सामान्य जन यह मान कर चलते हैं कि हर बात शब्दों द्वारा संप्रेषित हो सकती है और इतना ही नहीं, वह जिस रूप अथवा अर्थ में कही जाती है उसी में श्रोता का मन उसे ग्रहण भी कर लेता है । वास्तविकता नितांत भिन्न है । इसी शती के प्रारंभिक दशकों में ही पश्चिमी दार्शनिक जगत् यह समझ सका कि अधिकांश दार्शनिक मतभेदों तथा विवादों का सम्बन्ध न तथ्यों से होता है और न तर्कों से । वे तो संप्रेषण प्रक्रिया का भाषागत आधार न देख पाने के कारण उत्पन्न होते हैं । स्वाभाविक है कि यदि कोई कहता है कि पालि तिपिटक जैसे प्राचीन वाङ्मय में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि थेरवादी चिंतक भाषा के महत्त्व को समझ चुके थे तो निश्चय ही कानों को अटपटा लगेगा । उस समय और भी जब ऐसा मान लेने पर कुछ प्रिय परिकल्पनाओं से वंचित होने का भी भय हो । आज की परिस्थितियों में तथाकथित प्रगतिशील तत्वों को इस बात में सम्भवतः प्रतिक्रियावाद या पुरुत्थानवाद भी दिखाई दे जाय । किन्तु मूल पाठ से परिचय मेरे सामने और कोई विकल्प नहीं छोड़ रहा है ।

आधुनिक युग में बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी शोध ऐतिहासिक शोध-प्रणाली की दृष्टि से स्वयं एक महत्त्वपूर्ण विषय बन चुका है । एक जीवन्त परम्परा तथा तत्कालीन राजनीतिक -धार्मिक शक्तियों के लिये

एक चुनौती होने के कारण बौद्ध विचारधारा कुछ बौद्धिकेतर मूल्यांकन तथा अर्थ-निर्णयों की चपेट में भी आ गई। इनमें सबसे अधिक ध्यान बौद्धों के आत्म-चिन्तन तथा निर्वाण के स्वरूप ने आकृष्ट किया। जैसा सर्वविदित है, महायान और इस प्रकार बौद्ध चिन्तन का सरस, भावनात्मक दृष्टि से संतोषप्रद तथा रहस्यात्मक पक्ष- पश्चिमी आलोचकों को थेरवाद से पहले ज्ञात हो चुका था। बौद्ध परंपरा के इस पक्ष के साथ आत्मा तथा निर्वाण के अर्थ निर्णय को लेकर कोई विवाद भी जुड़ा हुआ नहीं है . पालि तिपिटक के उपलब्ध होने पर इसलिये समस्या और भी जटिल हो गई कि श्रीलंका तथा बर्मा, जहां थेरवाद आज भी एक जीवित धर्म है, ईसाई धर्म-प्रचारकों के भी सक्रिय कार्य-क्षेत्र थे। फलस्वरूप बौद्धधर्म-विरोधी प्रचार हो रहा था तथा बिशप बिगांदे तथा रेवरेंड स्पेन्स हार्डी जैसे लेखकों को अनात्मवाद में इस लिये उपयोगी अस्त्र दिखाई पड़ा। इसका सहारा लेकर उनके अनुसार यह सिद्ध किया जा सकता था कि तथागत मात्र एक घोर अनुत्तरदायी, नैतिकता से अनभिज्ञ, जड़वादी थे जो एक नित्य, ध्रुव शाश्वत आत्मा तथा उसकी मुक्ति में विश्वास ही नहीं करते थे। ऐसे धर्म-प्रचारक द्वारा दिखाया गया मार्ग तो सर्वथा त्याज्य ही होगा। इन लेखकों के प्रभाव का अनुमान इस बात से लग सकता है कि ओल्डेनबर्ग और कर्न जैसे भारतविद् भी इस प्रश्न पर कभी सुनिश्चित नहीं हो सकें।

बाद के वर्षों में बौद्ध विद्वान् इस प्रश्न को लेकर दो वर्गों में बंट गये। एक ओर रिस डेविड्स, मोनियर-विलियम्स , सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त और नरेंद्रदेव तथा राहुल सांस्कृत्यायन जैसे विद्वान् थे जो बुद्ध को सच्चे अर्थों में अनात्मवादी मानते हैं, यद्यपि उनके अनुसार अनात्मवाद जड़वाद का पर्याय कदापि नहीं है और तथागत एक अत्यंत उत्तरदायी तथा नीतिचेता विचारक थे। दूसरा वर्ग उन विद्वानों का है जो बुद्ध को औपनिषदिक अर्थों में ही आत्मवादी तथा ब्रह्मवादी मानते हैं। इनमें से कुछ का विश्वास है कि तिपिटक को ही यदि पूर्वग्रहों से मुक्त होकर पढ़ा जाय तो बुद्ध को अनात्मवादी कहना निराधार होगा। इनमें आनन्द कुमार स्वामी, आई.बी. हार्नर, श्रीमती रिसडेविड्स , राधाकृष्णन, आदि विद्वान् हैं जो मानते हैं कि अपनी लंबी मौखिक

परंपरा के दौरान तिपिटक बहुत बदल गया और आज उपलब्ध सामग्री को पूर्णतः बुद्ध वचन कहना उचित नहीं होगा। उदाहरण के लिये, राधाकृष्णन् कहते हैं-"बुद्ध को ऐसा लगा कि हिंदू विचारक चिंतन के गर्तहीन प्रश्नों से जूझने की चिंता में जीवन की गहन आवश्यकताओं की अनदेखी कर रहे हैं। अंतिम तत्व की तार्किक गवेषणा की सुस्पष्ट सीमाओं को ध्यान में रखते हुए बुद्ध ने तत्व-मीमांसीय जिज्ञासा को शांत करना अपना कर्तव्य नहीं माना, यद्यपि इन प्रश्नों पर उनका निश्चित दृष्टिकोण था।"[१] उनसे कई वर्ष पहले जर्मन विद्वान् आटो श्राडर कह चुके थे कि "बुद्ध निश्चय ही उनमें से नहीं है जो न जानने के कारण चुप रहते हैं। उनका मौन तो बहुत अधिक जान लेने का परिणाम है।"[२] केवल कीथ को बुद्ध के मौन में उनका "अविवेचित संदेहवाद"[३] दिखायी दिया।

बुद्ध अपने चिंतन तथा उपदेश के खुलेपन में गर्व महसूस करते प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार उनके पास "आचार्यों वाली मुट्ठी" नहीं है जो कुछ देती है तो बहुत छिपाकर भी रख लेती है। फिर भी कुछ प्रश्नों पर उन्होंने मौन रखना उचित समझा, जो व्याख्या की अपेक्षा अवश्य रखता है। यह कार्य उनके सामान्य व्यवहार से निश्चय ही हट कर था। कई विद्वानों, कथा लेखकों ने इनका सहारा लेकर परिकल्पना की उड़ाने भरीं हैं।

इस विवाद की सारी गहराइयों में जाना अप्रासंगिक होगा। इतना कहना यहां पर्याप्त होगा कि उड़ान भरने वालों ने, जिनमें राधाकृष्णन् अग्रणी हैं, सम्भवतः इस प्रश्न पर उतना ध्यान नहीं दिया जितना इतना दूरगामी निर्णय देने से पूर्व उचित होता। मैं यहां अपने अध्ययन तथा विश्लेषण के कुछ निष्कर्षों से परिचित कराना चाहता हूं।

प्रथम तो यह मौन केवल उन दस प्रश्नों के उत्तर में ही नहीं रखा गया जिन्हें "अव्याकतानि" कहा गया है। वास्तव में मौन-संबंधी प्रकरणों की संख्या तीस से अधिक है और उनमें भांति-भांति के प्रश्न लिये गये हैं। इनमें से कुछ को तो किसी तरह तत्त्व-मीमांसीय नहीं कहा जा सकता। दूसरे वे दस अव्याकतानि स्वंय भी तत्त्व-मीमांसीय नहीं कहे जा सकते। उनमें एक तो आत्मा की पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता के होने न होने का प्रश्न है, जिनके उत्तर का दूरगामी नैतिक

महत्त्व है, दूसरे, कुछ का उत्तर अपने शिष्यों के सामने बुद्ध ने अन्यत्र दिया भी है। यह एक संयोग प्रतीत नहीं होता कि प्रश्नकर्त्ता या तो मालुंक्यपुत्र जैसे नव-दीक्षित और बौद्ध विचारविधि से अपरिचित भिक्खु हैं या वच्छगोत्र जैसे नितांत बाहरी व्यक्ति जे व्यर्थ की ऊहापोह में समय बर्वाद करते थे। अधिकांश प्रकरणों में प्रश्नकर्त्ता वास्तव में यह वच्छगोत्र ही है। यदि इसी तथ्य को ध्यान में रखा जाता तो स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के मौन के पीछे जो भी कारण होगा उसका सम्बन्ध सम्प्रेषण-प्रक्रिया से अवश्य होना चाहिए।

सम्भवतः इसी का पूर्वानुमान करके बुद्ध ये स्मरणीय शब्द बोले होंगे जिनका विश्लेषण मेरा अभीष्ट था।

मज्झिमनिकाय के ७२ वें सुत्त, "अग्गिवच्छगोत्र सुत्त" में तथागत वच्छगोत्र से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, "**गम्भीरो हायं, वच्छ, धम्मो दुद्दसो दुरनुबोधो, सन्तोपणीतो अतक्कावचरो, निपुणो पण्डितवेदनीयो, सो तया दुज्ञनो अञ्ञदिट्ठिकेन अञ्ञखन्तिकेन अञ्ञरुचिकेन अञ्ञत्रयोगेन अञ्ञत्राचरियकेन।**"[४]

स्पष्टतः यह वक्तव्य दो भागों में बंटा हुआ है। पहले अपने विचारों को परिभाषित करने के बाद तथागत वच्छगोत्र तथा अपने बीच सम्प्रेषण के अवरोध के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालते प्रतीत हो रहे हैं। अपने दृष्टिकोण, जिसे वे "धम्म" निरूपित करते हैं, के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा है उनमें दो बातें विशेष रूप से ध्यातव्य हैं : वह "अतक्कावचर" है अर्थात् उसे कोरे तर्क की सहायता से नहीं जाना जा सकता और वह केवल निपुण पण्डितों के समझ में आने वाला है। "तर्क" शब्द पालि भाषा में सम्भवतः एक श्रेष्ठ अर्थ नहीं रखता और हो सकता है कि उसका आशय "वितण्डा" से मिलता-जुलता हो। अन्यथा जिस चिन्तन में शब्द-प्रमाण के लिये विशेष स्थान नहीं था वह आज के अर्थ में तर्क-विमुख नहीं हो सकता। बुद्ध यहां सम्भवतः केवल इतना कह रहे हैं कि व्यर्थ के प्रश्न पूछ कर उनके चिंतन के निकट भी नहीं पहुंचा जा सकता। किन्तु दूसरा दावा विचारणीय है। निपुण पण्डित से तात्पर्य पारम्परिक दृष्टि से सुशिक्षित होने से नहीं हो सकता, क्योंकि यह कहीं नहीं कहा गया है कि वच्छगोत्र में उसकी कमी थी। आगे आने वाले शब्दों से यह और

भी स्पष्ट हो जाता है। निश्चय ही बुद्ध यहां किसी ऐसी क्षमता की ओर इंगित कर रहे हैं जिसका वच्छगोत्र में अभाव रहा होगा।

विशेष महत्व इस उद्धरण के उत्तरार्द्ध का है। वच्छगोत्र पांच प्रकार से "अन्य" अथवा "भिन्न" है। विचारधारा (दिट्ठि), विश्वास (क्षान्ति), रुचि, अनुशासन और शिष्यत्व अथवा परम्परा। एक मन की ग्रहणशीलता किन घटकों पर निर्भर करती है, इसका स्पष्टतर आख्यान सम्भवतः आज भी कठिन होगा। जन्म के समय मानव मन चाहे जैसा हो, परिपक्व मन श्वेत पट्ट के समान नहीं होता। उस पर लिखा जा सकेगा जो पहले से वहां लिये हुए से टकरा न रहा हो, उसके साथ जिसे किसी तरह समन्वित किया जा सके। यह कार्य असंभव नहीं है, किन्तु उसके लिये पूरी जीवन शैली और प्रशिक्षण प्रक्रिया बदलनी होगी। बुद्ध ने ग्रहणशीलता में एक ओर विश्वास रुचि जैसे आत्मनिष्ठ तत्त्वों को महत्व दिया है तो दूसरी ओर अनुशासन और परंपरा जैसे बाह्य प्रभावों को। संक्षेप में यह स्पष्ट कर दिया कि भाषा उतना ही सम्प्रेषित कर सकती है जितना श्रोता मन उसे करने देगा। यह एक द्वंद्वात्मक परिस्थिति है। जितना सक्रिय वक्ता होता है उतना ही श्रोता मन भी। फलस्वरूप ऐसे व्यक्ति की शंका समाधान करने का प्रयास ऊर्जा का अपव्यय होगा जिसमें सम्प्रेषण ग्रहण करने की क्षमता न हो।

मैं समझता हूं कि इससे अधिक प्राचीन वैचारिक सामग्री में सम्प्रेषण प्रक्रिया तथा उसमें भाषा के स्थान को ऐसी पहचान विश्व भर में मिलना कठिन होगा।

बुद्ध ने यह कार्य केवल इसी एक स्थान पर नहीं किया है। अङ्गुत्तरनिकाय के अन्तिम भाग में एक अन्य बाहरी प्रश्नकर्त्ता उत्तिय बुद्ध से जानना चाहता है कि उनके दिखाए मार्ग से पूरा विश्व मुक्ति-लाभ करेगा या केवल एक अंश। इस प्रश्न को तत्व-मीमांसीय कहना सम्भव नहीं है, किन्तु फिर भी उत्तर में बुद्ध ने मौन रहना ही उचित समझा। इस पर जब उत्तिय ने आनन्द से पूछा तो आनन्द ने कहा कि बुद्ध तुम्हें उत्तर इसलिये नहीं देंगे क्योंकि तुमने यह प्रश्न एक भिन्न दृष्टिकोण से (अञ्ञपरियायेन) पूछा था।[५]

आधुनिक विद्वान् अपने पूर्वग्रहों के कारण इतने स्पष्ट और

विवादातीत साक्ष्यों को नहीं देख सके, किन्तु प्राचीन काल में मिलिन्दपञ्ह तथा अभिधर्मकोश जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में वही दृष्टिकोण प्रतिबिंबत होता है। नागसेन इस बात पर अधिक जोर देते हैं कि तथागत निरुद्देश्य जबान नहीं खोलते, जबकि वसुबन्धु के अनुसार बुद्ध प्रश्नकर्ता के प्रयोजन, मनःस्थिति और ग्रहणशीलता को ध्यान में रख कर ही बोलते थे।[६]

सन्दर्भ

१. राधाकृष्ण, सर्वपल्लीः "इण्डियन फिलासफी-सम प्राब्लम्स्" माइन्ड, १९२६, पृ. १६

२. श्राडर, ओटोः "आन द प्राब्लम आफ निर्वाण," जनरल आफ पालि टेक्स्ट सोसाइटी, १९०५ पृ. १६३.

३. कीथ, ए.बी.: बुद्धिस्ट फिलासफी इन इण्डिया एण्ड सीलोन, १९२३, पृ. ४५.

४. मज्झिमनिकायो, खण्ड,२, पृ. १८०, सिरि नव नालन्दा महाविहार, १९५८, सं. राहुल, सांस्कृत्यायन।

५. ग्रेजुअल सेयिंग्स, खण्ड ५, पृ. १३४.

६. द क्वेश्चन्स आफ किंग मिलिन्द, एस.बी.ई. ३५, पृ. २०६ तथा मूर्ति, टी.आर.वी., सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, १९५५, पृ. ४२-४३ में अभिधर्मकोश का श्चेरबात्स्कीकृत अनुवाद का उद्धरण।

15

THE PRESUPPOSITIONS OF THE ADVAITA THEORY OF MEANING

GIRIDHARILAL CHATURVEDI

To the ears used to *anirvacanīyatā* jargon of the Advaitins, the view may sound incredible that Advaita Vedānta assigns possibly the most exalted role to language in its scheme of things. A close look at the basic suppositions of the system amply bears out the point. It is through language that one is introduced and uplifted into the embrace of the highest reality.[1] The Advaita theory of meaning, thus develops as part of its metaphysics which holds that contemplation of '*mahāvākyas*' as enjoined (*śrotavyo mantavyo nididhyāsitavyaḥ*) finally leads to liberation. The theory is a notable contribution as an exposition of the creative semantics, different from the introvert or structure bound theories of meaning put forth by the grammarians and analytic philosophers.

The Vedānta system is an exercise in interpretation aimed at determining the import of the Upaniṣads and of the *Brahma-sūtra*, which sought to offer a connected account of Upaniṣadic teachings. The problem of meaning poses itself before the early Vedāntins in the form of determining the validity of their system as a meaningful exposition of 'Vedārtha'. They had to establish the validity of Upaniṣads as a source of metaphysical knowledge against the Mīmāṁsā view that the Vedas (including Upaniṣads) are the source of the knowledge of duty only, and as such, in a meaningful exposition, should be construed as prescriptive or prohibitive of certain actions, directly or through proxy. The Śruti, being prescripitive of action, meaninglessness entails if they signify anything other than that (action).[2] It is against this Mīmāṁsā theory of meaning that the early Vedānta system defines its course. Ācārya Śaṅkara ably brings out untenability of the oversimplified view of the Mīmāṁsakas

regarding the purpose and the content of the Vedic lore. He points out that the presence of the prescriptive and the factual statements in the scriptures broadly hint at the possibility of two different disciplines forming the subject matter, respectively of *'dharma-jijñāsā'* and *'brahma-jijñāsā'*. It is not necessary to go into details of Śaṅkara's exposition (*Brahma-Sūtra* I.1.4). Suffices here, to take note of the fact that the first step towards Vedānta theory of meaning was taken when Ācārya Śaṅkara put forth (or elucidated) the view that the scriptures are the source of metaphysical knowledge, not provided by other means of cognising. In order, historical as well as logical, that is the first supposition of the Vedānta theory of meaning, known as *'siddhārtha-bodhakatāvāda'*, different from the *'Kriyārtha-bodhakatāvāda'* of the Mīmāṁsā school. It necessitates two more suppositions viz. the *akhaṇḍārtha* theory of meaning and the *'śabdāparokṣatāvāda'*; the former explaining the content of the liberating knowledge and the mode of language, whereby it is arrived at; whereas the latter explains the perceptual character of this knowledge, which ensures to it the character of an uplifting realisation. The three suppositions viz.

(i) the *siddhārtha - bodhakatāvāda*

(ii) the *akhaṇḍārthavāda* and

(iii) the *śabdāparokṣatāvāda*, put togather, give us a complete theory of meaning. While the first one is of general significance to all the Vedānta systems, the following two suppositions, we now propose to take up for a brief review, are specific to the Advaita theory of meaning.

THE *AKHAṆḌĀRTHA* THEORY OF MEANING

The *akhaṇḍārtha* theory of meaning is a way of understanding the identity statements. It holds that the statement of identity may generate a knowledge of pure, non-relational identity, provided that it is construed in the prescribed way. The *akhaṇḍārtha* view of meaning is hence, an affirmation of the non-relational content of the identity statement, as well as of the mode of language which generates it. This theory of indivisible significance of meaning was developed as a means to understand the import of the Vedānta

metaphysics, which upholds the unity of self as the transcendental reality, the immutable continnum of being, knowledge and bliss, the absolute without second.

The Advaitins uphold that some Upaniṣadic utterences known as *'mahāvākyas'* represent the consummate import of Upaniṣadic teachings. These are identity statements direct such as *'satyam jñānam anantam brahma'* and indirect such as *'tattvamasi'*, which have been referred to in the texts, respectively as *'lakṣaṇa vākya'* and *'abheda vākya'*. However, besides these, a given identity may be stated in a number of ways, and the question of indivisible significance of identity may be significantly posed with reference to all of them. For example, the identity statement with reference to a given fact (identity) 'P' may take the following forms :

I. P

(i) This is p

(ii) p is p

(iii) ~(p~p) (It is not the case that P and not p)

(iv) P1 P2' is P (*prakṛṣṭaḥ prakāśaḥ candraḥ*)

(v) Px is Py (*so'yaṁ Devadattaḥ)*

Here P, P_1, and P_2, are the relational meanings of P. The *akhaṇḍārtha* theory of meaning holds that from (i), (ii), (iii), (iv), (v), properly construed, one may reach I, the bare, non-relational identity that is P. Holding that it is possible to convey through language, the idea of the bare, non-relational identity, the *prātipadikārtha'* as it has been called by the grammarians, Citsukhācārya offers his consumate formulation of the concept of *akhaṇḍārthatā* as follows : 'The ability of non-synonym words in a sentence to give rise to non-relational cognition is *akhandārthatā*.[3] Obviously this definition has been formulated in view of the *mahāvākyas* represented in the abode table by the categories IV and V. A general definition without the word 'non-synonym', applies to all the statements of identity unlisted above.

In fact the problem of *akhaṇḍārtha* or indivisible significance, revolves around the two questions viz. (i) Is *akhaṇḍārtha* a fact, and granting it, (ii) how language, itself a relational structure, can give rise to it ? In order to show that the non-relational significance is a fact, the author of *Saṁkṣepa Śārīraka* draws attention to such statements as -

'भेदो भिन्नः, ; 'अतिरेकः अतिरिक्तः ; भेदः अभिन्नः; संविदः स्वप्रकाशः, etc. They all illustrate undifferentiated meanaing.[4] Also, we come across an interesting analysis of Pāṇini's *sūtra* 'प्रातिपदिकार्थ लिङ्गवचन परिमाणमात्रे प्रथमा (II.3.46)', to evidence the non-relational meaning posited for a relational expression.[5] The word *'vṛkṣaḥ'*, it has been pointed out, is a relational verbal expression, (*vṛkṣa* + *su*). However, according to the aforesaid *sūtra*, a word with I case ending, say *'vṛkṣaḥ'*, though a relational entity, is capable of signifiying the bare non-relational meaning, the *'prātipadikārtha-mātra'*, as it has been said. This *'prātipadikārtha mātra'* is no less a reality of grammar than of logic and the *Advaita* metaphysics.

The basic objection to the *akhaṇḍārtha* theory of meaning, however, seems from the concept of language as a meaningful structure. It is pointed out that everywhere the sentences are seen to yield a relational meaning, through the words, mutually related through *ākāṅkṣā* etc. Hence the indivisible homogeneity can never be the import of a sentence.[6]

The sentence is always *'saṁsṛṣṭārtha bodhaka'* can never be *'asaṁsṛṣṭārtha bodhaka'*. It is against this background that the Vedāntin feels his way, towards a mode of language which may express the bare identity different from its mutilated reflections in the structure of the language. He concedes that the trans-linguistic, unitive significance cannot be the content of the sentence, if the word content means what is reflected in the structure of the sentence. But then, he points out, analysis is not the only valid means of ascertaining the import of a sentence. The fact that in many a cases, a man understands more than he knows through the sentence, testifies to the creative, the liberating, the self-transcending order of language. It is through an operation on this plane that the language brings about apprehension of what is called *'prātipadikārtha mātra.'*

With this purpose in mind, the Vedāntin explores the creative orders of language, as has been done in the works of poetics with a different objective. There is an extensive discussion of *lakṣaṇā* and its varieties viz. *jahallakṣaṇā*, *ajahallakṣaṇā* and *jahadajahallakṣaṇā* in the Vedānta texts. When a word denoting a qualified substantive, partially

surrendering, retains only part of its significance, there is *jahadajahallakṣaṇā*. It is illustrated in the sentence *'So' yaṁ Devadattaḥ.*[7] Here the unitive significance of the substantives denoted by the words *'saḥ* and *'ayam'* being incompatible, the two words through *jahadajahallakṣaṇā* come to denote the unity of the bare substantives.[8] Similarly in the *mahāvākyas, 'tattvamasi'* etc., since the identity of the qualified substantives i.e. the omniscient being (*Īśvara*) and the being delimited by the internal organ (*Jīva*), respectively denoted by the word *'Tat'* and *'Tvam'* is incongrous at the face of it, there follows through *lakṣaṇā* construction, an affirmation of the identity of the unqualified substantives, signifying the indivisible unity of the self.[9] "Just as in the sentence *'prakṛṣṭaḥ prakāśaḥ candraḥ'*, the words *'prakṛṣṭaḥ'* and *'prakāśaḥ'* refer to the bare identity of the moon through *lakṣaṇā*, even so the words *'satyam'*, *'jñānam'* and *'anantam'* in the sentence, *'satyam jñānam anantam Brahma'*, by surrendering their phenomenal meanings serve to suggest the bare identity of *Brahman.*[10]

The aforesaid references have been selected simply with a view to illustrate the style as well as the compulsive philosophical contexts in which the problem of the bare, non-relational identity - significance, has been discussed in the Advaita system. However the problem, whether such a non-relational apprehension of identity is a fact, and if so, how the language accomplishes it, is of general significance for metaphysics, logic and the science of language. The Advaita treatment of it is undoubtedly a significant contribution on the subject.

ŚĀBDĀPAROKṢATĀVĀDA

According to the *Vivaraṇa* school of the system, the verbal cognition brought about by the *mahāvākyas* in the manner specified, is of the nature of direct apprehension. In fact only a knowledge of the nature of direct experience can carry conviction and become a transforming, uplifting realisation as envisaged in the *Vedānta* system. The supposition of *śābdāparokṣatāvāda* serves to ensure the character of a liberating vision to the wisdom acquired through the *mahāvākyas*. The enjoined verbal cognition is of the nature

of direct apprehension, more or less in the same sense, in which the *'apriori'* or necessary statements are held direct or incontrovertible by the western philosophers. As noted earlier, the *mahāvākyas* are of the nature of identity statements and the *advaita* wisdom arrived at through them, is purely of the nature of linguistic analysis, and so such, it enjoys a necessary character. Because of this necessary and indubitable character, it is incontrovertible like the perceptual testimony. It is only in this sense that the knowledge generated by *mahāvākyas* may be called direct or perceptual. The analysis of the sentence *'daśamas tvamasi'* in the *Vedānta* texts amply bears out the point.

To sum up : According to the Advaita view, the meaning of a sentence is not merely what is reflected in the structure of the sentence, as the analytic philosophers in the West, and the *'pada'* and the *'padārtha'* exponents, the grammarians and the Naiyāyikas of our tradition hold. Of course, the grammarians have shown admirable susceptibility to the meta-linguistic bearing of language. They h.ve ably worked out the successive stages of meta-language as *'parā'*, *'paśyantī'*, *'madhyamā'* which precede the audible *'vaikharī'* articulation. This is all very good. But what they call *'parā vāk'* or transcendental speech, is a actually meta-speech or *'prāg-vāk'*. From the point of view of creative semantics, *'vaikharī'* is not the end but the beginning of the process. The scholars of poetics take up the matter and explore the creative possibility of language, the given *'vaikharī'* order of it to be precise. But they do so for the joys of fiction rather than for the realisation of the metaphysical wisdom. It becomes the duty of the Vedāntin, once he accepts that verbal cognition is capable of generating experience of the non-relational identity, to work out the distinctive function of the language which ushers into integrated experience transcending its divisive categories. The *Vyākaraṇa* metaphysics is a tale of successive disintegration and fracturing of the *'parāvāk'*, till it is caught in the inexorable inertia of the categories of the *'vaikharī'* articulation. The Vedāntin takes up this structure of enslavement and reviews it in a way which converts it into a liberating force. What is significant is that this liberation is not the reversal of the

Vyākaraṇa process of phenomenalisation, from the *'vaikharī' back to the 'parāvak'*. The *akhaṇḍārtha* theory is a new way of looking at the language as it is given to the common man, and exploring its possibilities as an instrument to the realisation of the highest wisdom.

Footnotes

1. तत्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम् ।

   (Nyāyaratnadīpāvalī; p.19 (quoted)

2. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थनाम्

   (Jaiminī Sūtra; 1.2.1)

3. अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचर प्रमितिजनकत्वमखण्डार्थता ।

   (Tattvapradīpikā; p.192)

4. भेदो भिन्नश्चातिरेकोऽतिरिक्तो, भेदोऽभिन्न, संविदः स्वप्रकाशाः ।
   इत्येतस्मिन्विद्यते नार्थभेदो, वेदान्तानामप्यखण्डस्तदार्थः'।।

   (Saṁkṣepa Śārīraka; I.215)

5. एवं तावदखण्डवस्तुविषये शब्दान्वयो दर्शितो
   लोके दृष्टनयेन पाणिनिवचोऽप्यस्यैव संसूचकम् ।
   येनायं स्मरति, प्रकृत्यभिहिते वृक्षादिके केवले
   तन्मात्रे प्रथमेति सूत्रवचसैवाऽऽद्यां विभक्तिं मुनिः ।।

   (Ibid; I.216)

6. ननु सर्वत्र वाक्येषु पदान्तरस्पृष्ट एव पदान्तरार्थः प्रसिद्ध । अतः संसृष्ट, पदार्था वाक्यार्थः । न त्वेकरसवस्त्वसंसृष्टम् ।

   (Nyāyaratnadīpāvalī, p.139)

7. यत्र हि विशिष्टवाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा । यथा सोऽयं देवदत्तः ।

   (Vedānta Paribhāṣā : Agama Paricchedaḥ)

8. अत्र पदवाच्ययोर्विशिष्टयोर्द्वैक्यानुपपत्त्या पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम् ।

   (Ibid.)

9. यथा वा तत्वमसीत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपदवाच्येनान्तः करणादिविशिष्टेनैक्यायोगात् ऐक्यसिद्ध्यर्थं स्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः ।

   (Ibid.)

10. प्रकृष्टप्रकाशाध्वनि व्यक्तिमेकाम्

यथा लक्षणावर्त्मनोपक्षिपेताम् ।
शशाङ्कादिशब्दार्थसंकीर्तने सत्
चिदानन्दशब्दाः परं ब्रह्म तद्वन्"

(*Saṁkṣepa Śārīrakam; I.231*)

Select Bibliography

1. *Brahma-sūtra - Śāṅkara Bhāṣya;* Nirṇaya Sāgar Press,1938
2. *Saṁkṣepa Śārīrakam* - Published by Swami Sarvānanda; Varanasi; Saṁvat 2017
3. *Nyāya Ratnadīpāvalī* - Madras Govt. Publication; 1961
4. *Tattvapradīpikā* - Udāsīna Sanskrit Vidyālaya; Varāṇasi, 1956
5. *Vedānta Paribhāṣā* - Belur Math Publication; Calcutta, 1953

16

THE THEORY OF WORD AND MEANING IN THE NYĀYABHŪṢAṆA

L.V.JOSHI

There are different views regarding the relation of word and meaning. Naiyāyikas hold that there is a conventional relation between the two; whereas, Mīmāṁsakas assert that there is a natural relation between word and meaning. According to grammarians, there is a relation of denoted-denoter between the two.

The Nyāya asserts that the convention between word and meaning could be made by God or by human beings. According to Mīmāṁsakas, word has a natural power which can express a certain definite object, irrespective of the human will, just as fire has a natural power of burning. Though the power of word and that of fire are both natural, there lies the difference between the two. The former requires to be known through the observation of verbal communication of elders etc. while, the latter functions even though when it is not known.

The Naiyāyikas hold that the language is a creation of God and of human beings.

With this background, now we come to Bhāsarvajña's Nyāyabhūṣaṇa. At the commencement of the third *pariccheda*, the author defines the *āgama*[1] : *Āgama* is the means of indirect right apprehension, through the force of convention (*samaya*). Here the convention means the knowledge or remembrance of it. It is made by God or by man. That such and such a meaning should be understood from such and such a word, is called 'convention'.

Mīmāṁsakas establish the validity of the Vedas on the strength of their being non-person-made, i.e. *apauruṣeya*. Bhāsarvajña argues that though the Veda is - as the opponent holds - superhuman-made yet, it requires the convention made by person, while conveying some mean-

ing.[2] If the convention is not admitted, then the children, shepherds etc. also would be capable to understand the meaning of the Veda merely by listening its text. Words are never seen to be conveying any meaning when, they are not ascertained by convention. It is right to say that if anybody seeks to interpret the Vedic word on the basis of the convention which is made by non-reliable person, then there arises the contingency of the Veda being non-valid. But if the convention is made by reliable person, then on the basis of the validity of that person, the validity of the Veda also has to be admitted. This proves that it is a futile labour on the part of the Mīmāṁsakas to establish the Veda as non-person-made.[3]

If it is argued that the words are capable of conveying their meanings on the basis of natural relation alone without any requirement of convention, then the question may be asked whether that relation is non-eternal, then the problem is bound to arise as in the case of convention, viz. the Veda becomes non-valid. And if the relation is taken to be eternal, then there would be the contingency of all the listeners of the Vedic text being able to understand the meaning.[4]

It may be contended that the natural eternal relation between word and meaning alone can not convey any meaning, but it requires to be known, before it functions. That is to say, the natural relation between word and meaning has already been there, it is manifested by convention; just as there has already been the relation between father and son, but it is made known by convention.

Bhāsarvajña refutes this contention by saying that there is no proof to establish that the permanent relation between word and meaning comes to be manifested by convention. The example of the relation is known by positive and negative invariable concomitance as characterised by *janya-janaka-bhāva*. However, that is not in the case of the relation between word and meaning. There is no proof to establish any permanent relation between the two.[5] Again the Mīmāṁsaka argues that it is not that there is no proof to establish the permanent relation between word and meaning. It is proved by the reason of observing the restricted

relation between the two. The restriction is this that the word alone is expressible. Such a restriction i.e. *vyavasthā* is not possible, if there is no permanent relation between word and meaning.[6]

And if the Naiyāyikas contend that this restriction i.e. *vyvasthā* is due to the convention[7]; then it is not correct, because if so admitted there would arise the contingency of the relation being converse also, viz. this meaning is expressive of this word and this word is expressible by this meaning.

The Mīmāṁsaka advances one more argument to refute the convention. If only on the strength of convention, the word is admitted to be conveying the meaning, then there would arise the fault of endless series. The convention is made only by the expressive word, i.e. this meaning is to be understood by this word. The words constituting the convention would require another convention; and that also inturn again would require further convention; and this would lead to the fault of endless series. It is, therefore, established that there is a permanent relation between word and meaning.[8]

Now Bhāsarvajña proceeds to repudiate the arguments advanced by the Mīmāṁsaka. It was contended by the Mīmāṁsaka that there is certainly a proof, to prove the permanent relation between word and meaning; and that is the restricted position of word and meaning. But this is not tenable, since the restricted position between the two is infact due to the referential power residing in the word. The denotative power of words never resides in objects or things or their remembered meanings, it solely belongs to the word. Hence the word is called expressive alone, and the meaning is expressible and not vice-verse on the simple ground of grammar.[9]

Moreover we can not admit the invariable concomitance between the restricted position, i.e. *vyavasthā* and the existance of natural relation. If this be admitted, it would creat again certain logical absurdities. For, we see the restricted position even between *kāraka* (noun) and *kārya* (action) as well as between suggestive words and suggested meanings. If only the restricted position i.e. *vyavasthā* is

regarded to be able to prove the existence of natural relation; then we are forced to admit the natural relation between *kāraka* and *kārya* etc., which is quite absurd.[10]

And it was argued by Mīmāṁsaka that if only on the strength of convention, the word is regarded to be conveying meaning, there would arise the fault of endless series. This argument also can not be maintained. For the Naiyāyikas have not accepted the rule that the convention is made by word alone. It is possible otherwise, also. For example, someone may make the convention by pointing out with finger indicating that this is a cow or he may do so by touching with hand. Thirdly, by the method of acceptance and rejection, the children come to know the convention as intended by elders.

When an old man says to someone - 'Do a pot for me' and 'Bring a pot for me', the child while hearing the statement, comes to know the convention regarding the pot by the method of accepting the thing as pot and rejecting (ignoring) the act of doing and bringing.[11]

It is therefore, concluded that the words become expressive only on the strength of convention, and there is no relation like permanent.[12] This view as held by Bhāsarvajña can be corroborated by the opinion of a Western scholar - Ragnar Rommetveit. He writes : "There is not always any immediate transparent or 'natural' linkage between sign and signification."[13]

Moreover, if the relation between word and meaning is taken to be natural as held by the Mīmāṁsaka; then there must be the rule without exception that a particular word must convey a particular meaning. But that is not found anywhere. For example, the word *'caura'* conveys the meaning of 'thief' among the *ārya* people; and the same word is used in the sense of rice in the dravidian province.[14]

Gautama, the author of Nyāya-Sūtra and Vātsyāyana, the author of Nyāyabhāṣya have already established the changing nature of the relation between word and meaning. The Nyāya-Sūtra runs : 'Also because there is no such limitation (in actual usage) among different people.[15]

Explaining the *sūtra*, Vātsyāyana says that : 'Because there is diversity in actual usage among diverse people, the

denotation of things by words must be regarded as based upon convention; and not upon any natural relationship. As a matter of fact, we find that among such diverse people as *ṛṣis*, *āryas* and *mlecchas*, they make use of words for expressing things in any way they choose, without any restriction. And if there were any natural relationship between word and meaning; for instance, in the case of light of fire, we find that its capability of being the cause of making colour cognised (where the relationship is natural and eternal), does not fail among any particular people at all.[16]

To cite more examples of the change of word meaning relation[17] we can add that the word *'yava'* is used by the *āryas* to express barly and by *mlecchas* to express long-pepper; that word *'trivṛt'* is used by *ṛṣis* in the sense of nine hymns and the *āryas* used it in the sense of a particular creeper.

Coming back to the Nyāyabhūṣaṇa, we find the same logic in it to refute the natural relation between word and meaning. If the relation were natural, the irregularity regarding it can not be explained. We know that there is a natural relation between smoke and fire, and that is why the smoke invariably indicates the presence of fire; and never that of water. But if the word is made by person to be conventionally restricted to some meaning; then that word would be always found to be conveying that same meaning. We give names of our choice to our children.

The view held by a Western scholar - Ragnar Rommetveit is worth noting here. He says[18] : "The fact that triangles represent warnings, whereas circles stand for prohibitions, seems to be based upon arbitrary choice on the part of the inventor rather than onsign-signification resemblance or any causal connection between the two."

It is therefore, established that the statement that there is a permanent relation between word and meanings; and it is manifested by convention; does not stand to reason.

The Mīmāṁsaka may again argue that the natural relation exists only between vedic words and their meanings; and not every where.[19] But this also is not tenable. For, we do not find any distinction among words, on the basis of which we admit the natural relation in respect of

another group.

Again it may be contended that if the relation is taken to be based on convention; then that relation could not be the cause of verbal communication everywhere. For example, the convention made by us between the names such as Narasimha etc. and our sons etc. becomes very restricted and it is not known everywhere. Similarly, the convention made between the word Bhāvamitra etc. and *ghṛta* etc. is not known by all.[20]

But this contention also, says Bhāsarvajña, is untenable. For, it has been nowhere established that the relation based on convention should be known everywhere. We have already seen that different relations between word and meaning are prevalent among different peoples.

Moreover, the Naiyāyikas hold that all verbal communications have a beginning; just as the names Nanda, Vikramāditya, Śrīharṣa etc. have a beginning. And there is no example to prove the contrary.[21] And by some reason or another, some verbal communications have become prevalent in many places, just like the names Rāma, Rāvaṇa, Yudhiṣṭhira etc.[22] All the names do not become prevalent. But this does not prove that there arê two different relations, natural and conventional.

Besides, if at one place the capability of convention is admitted, then at other places also the same should be accepted. It is useless to establish the natural relation.[23]

It may be argued that each and every word is regarded to be connected with all things. This is also not correct. If this is admitted then by uttering a single word 'go' all the things would come to be understood. And this is absurd.

And again the Mīmāṁsaka may contend that though each word is infact related to all the objects, it requires a convention, before it functions to denote meaning. But this also does not stand to reason. For, even after accepting the natural relation, the Mīmāṁsaka has to admit the relation based on convention. Then let there be only one relation, i.e. one based on convention.[24]

And the Mīmāṁsaka regards that every word related to all objects, but that relation conveys meaning only when it is being regulated by convention made by a person. But so

far as Vedic words are concerned there is no person who makes conventions and hence those words have to be regarded as conveying no meaning at all. This is quite absurd. Again, if the person who makes a convention is admitted even in regard to Vedic words, there remains no distinction between word regulated by person-made convention and that which non-person-made.

Bhāsarvajña concludes that the attempt made by the Mīmāṁsakas to prove the Vedas *apauruṣeya*, proves to be futile. It is therefore, established that the relation between word and meaning is infact based on the conventions made by person.

At the end, we can add that the new phraseology is invented by men in different countries to convey new ideas or denote new inventions. The fact that innumerable words unknown before are being added to languages; and there are different languages in the word is strongest proof against the natural relation between word and meaning.

As the modern linguist John Chapman writes : "Language is always changing and the field of a word after shifts."[25] This view also strengthens the Bhāsarvajña's view that the relation between word and meaning is based on convention alone.

NOTES AND REFERENCES

1. समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनम् आगमः ।
   Nyāyasāra, Nyāyabhūṣaṇa, Bhāsarvajña, ed. by Svami Yogindrananda, Saḍdarśana Prakāsana Pratisthāna, Varanasi, 1968, p.379.
2. अपि च अपौरुषेयोऽपि पुरुष्कृतं समयमपेक्ष्य अर्थ
   प्रतिपादयति, अन्यथा हि बालगोपालादीनामपि पदे
   पाठश्रवणमात्रात् तदर्थप्रतीतिः स्यात् ।
   Nyāya-bhūṣaṇa, Ibid. p.398
3. आप्तेन कृतश्चेत् ननु एवम् आप्तप्रामाण्यदेव
   प्रामाण्यं वेदस्य अभ्युपगतं भवति । ततश्च व्यर्थम्
   अपौरुषेयत्वोपवर्णनम् ।
   NyB., p.198

4. सम्बन्धबलेन शाब्दाः संकेतानपेक्षिणः बर्थम् अभिदधति इति चेत् सम्बधोऽपि अनित्यः स्यात् नित्यो वा इति । अनित्यत्वे संकेतवाद् दोषः । नित्यत्वेऽसर्वेषां वेदपाठश्रोतृणां तदर्थप्रतिपतिप्रसङ्गः ।

NyB., p.398

5. व्युत्पत्ति-अपेक्षितत्वापद् अप्रसङ्ग इतिचेत्, स्यान्मतम् स्थितोऽस्य वाचकस्य वाच्येन सम्बन्धः संकेतस्तु तमेव अभिज्वलयति यथा पितापुत्रयोः अवस्थित एवं संबंधः संकेतेन अभिद्योत्यते इति, न, प्रमाणोभावात् । यथा पितापुत्रयोः जन्यजनकलक्षणः सम्बन्धः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतीयते, नैवं शब्दार्थयोः ।

NyB., p.398

6. न नास्ति (प्रमाणम्) व्यवस्थादर्शनात् । शब्द एव वाचकः, अर्थ एव वाच्यः, इत्येषा नासति सम्बन्धे युक्ता ।

NyB., p.398

7. संकेतकारिता इति चेत्, न, विपर्ययेणापि वाच्यवाचकभावप्रसङ्गागात् अस्य शब्दस्य अयम् अर्थः वाचकः अस्य अर्थस्य चायम् शब्द अभिधेय इत्येवमपि संकेतः कर्त्तुं शक्यते ।

NyB., *Ibid* p.398

8. अनवस्थाप्रसङ्गात् च- यदि संकेतबलेयं शब्दः अर्थ प्रतिपादयति, स संकेतो न अवाचकेन शब्देन कर्तुं शक्यते, संकेतहेतोः अपि शब्दस्य वाचकत्वम् संकेतान्तरसामर्थ्यवद् इत्यनवस्थाप्रसङ्गः । तस्मादस्ति स्वाभाविकः संबन्धः इति ।

NyB.,p.398

9. अत्रोच्यते यत् तावद् व्यवस्थादर्शनादिति, तन्न, व्यवस्थायाः शक्तिनिमित्तत्वात् । या एव शब्दानाम् अभिधात्री शक्तिः सा अर्थेषु नास्ति इति तेनेयं व्यवस्था ।

NyB., p.399

10. अन्यथा हि सर्वेषां कारकाणां व्यजंकानां चाव्यवस्थादर्शनात् स्वकीयैः व्यंजकैः स्वाभाविकः संबन्धः प्रसज्यते ।

NyB., p.399

11. नायं नियमोऽभ्युपगम्यते वाचकशब्देनैव संकेतः क्रियते, किन्तु अन्यथापि-यथा अङ्गुल्यादिना निर्दिश्य हस्तेन संस्पृश्य वा अयं गौः संकेतं करोति । वृद्धव्यवहारेषु च आवापोद्वापाम्यां पराभिप्रायस्यं संकेतं प्रतिपद्यन्ते ।

NyB., p.399

12. तस्मात् समयबलेनैव शब्दानां वाचकत्वात्, न स्वाभाविकः सम्बन्धोऽस्ति ।

NyB., p.399

13. Words, Meanings and Messages, (Theory and Experiments in Psycholinguistics), Ragnar Rommetveit,

Oslo, Norway, New York & London, 1968, Intro., pp. 11-12, part 1.

14. देशविशेषे चानियमात् - यथा चोरशब्दः तस्करम् आर्येषु अभिधत्ते द्रविडेषु ओदनमिति ।

NyB., p. 399. Also read

तन्त्रवार्त्तिकेऽपि उदाहृतम्, "तद्यथा ओदनं चोरचोरेत्युक्ते चोर पदवाच्यं कल्पयन्ति ।

NyB., F.n. 2, p. 399

15. जातिविशेषे चानियमात् । न्या.सू., २.१.५७

Nyāya dars'anam & Bhāsya-Swami Dwarikadas Śāstri, Baudha Bharati, Varanasi, 1976, p.126

16. सामयिकः शब्दात् अर्थसम्प्रत्ययः, न स्वाभाविकः । स्वाभाविके हि शब्दस्य अर्थप्रत्यायकत्वे यथा कामं न स्यात् - यथा - तैजसस्य प्रकाशस्य संप्रत्ययहेतुत्व न जातिविशेषे व्यभिचरतीति । ५७

Nya-bhā., Ibid p.126

17. The Nyāyasūtras.. with Bhāṣya & Vārttika (of Uddyotakara) Trans. by M. Ganganatha Jha Vol.II, Motilal B. Delhi Reprint 1984, p.845

18. Words, Meanings And Messages (Theory And Experiments in Psycholinguistics) - Ibid pp. 11-12

19. वैदिक शब्दानामेव अर्थैः सह स्वाभाविकः संबन्ध इति चेत् प्रमाणाभावात् ।

NyB., p.399

20. ननु च सांकेतिकत्वे शब्दर्थासम्बन्धस्य सर्वत्र च व्यवहारहेतुत्वं न स्यात् स्वपुत्रादिषु नरसिंहादिसंकेतवद्, घृतादिषु भाव मित्रादिसंकेतयत् च इति ।

NyB., pp. 399-400

21. आदिमत्वात् च सर्वव्यवहाराणाम् नन्दविक्रमादित्य श्री हर्षादिव्यवहारवत् । अनादित्वेतु दृष्टान्तो नास्ति ।

NyB., p.400

22. आदिमत्वेऽपि समयकारप्रभावाद अन्यस्माद्वा कुतविन्निनिमित्तात् भूयःस्वपि देशादिषु कश्चिद् व्यवहारः प्रासङ्गिकः कश्चिन्न इति यथा रामरावणयुधिष्ठिरादिनामापि अद्यापि व्यवहरन्ति, न सर्वपुरुषनामानि । ...नैतावता स्वाभाविकसांकेतिक सम्बन्धभेद ।

NyB., p.400

23. यदा तु एक त्रापि संकेतस्य सामर्थ्यम् इष्टम् तदा अन्यत्रापि समयादेव शब्दानां वाचकत्वं भविष्यतीति व्यर्था सम्बन्धान्तरकल्पना ।

NyB., p.400; Also read

गिरामेकार्थनियमे, न स्यादर्शान्तरे गतिः ।
अनेकार्थाभिसंबंधे विरुद्धव्यक्ति सम्भवाद् ।।

Pramāṇavārttika (Dharmakīrti with Manorathanandi-vrtti) ed. by Swami Dwarikadas Shastri, Varanasi, 1984 pp.327-28.

24. प्रत्येक शब्दस्य सर्वैः अर्थैः सम्बन्धो नास्तिचेत् यद्येवं गोशब्दादेव सर्वार्थप्रतिपतिप्रसङ्गः । समयापेक्षतत्वादप्रसङ्ग इति चेत्, समय एव तर्हि अस्तु, किं सिद्धौपस्थायिना स्वाभाविकसंबन्धेन अप्रामाणिकेन कल्पितेनेति ।

NyB., p.400; Also read

तदा संकेतभेद एव स्वीकृतोऽस्तु किं शक्तिभिः इति घट्टकुटीप्रभातायितम् ।

Article Śabdarthasambandhah - Śri Kedaranath Tripathi, p.13.

25. Word and Their Meaning Language Development. - By John Chapman & others, The Open University 1970, p.19 (Block 3).

INDIAN THEORIES OF KNOWLEDGE REPRESENTATION

Keshab Chandra Dash

0. INTRODUCTION

The process of knowledge representation in Sanskrit is not only straight-forward but also precise and unambiguous. To remove ambiguity in all possible levels of an expression different theories have come into existence. The important theories are :

1) *vyāpāra-mukhya-viśeṣya* of Vaiyākaraṇas.
   'Action as main qualificand'.
2) *prathamāntārtha-mukhya-viśeṣya* of Naiyāyikas.
   'Nominative-agent as main qualificand'.
3) *bhāvanā-mukhya-viśeṣya* of Mīmāṁsakas.
   'Efficient force or productive urge as main qualificand'.
4) *avyayārtha-mukhya-viśeṣya* of others.
   'Indeclinable as main qualificand'.[1]

These may be explained in the following manner.

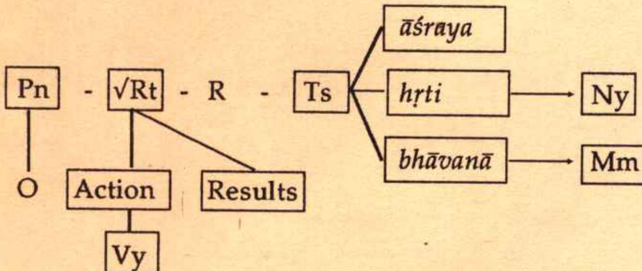
na bhavati = (na + bhū + ti)

= (Negative Particle+) (Root+*Tiṅ* suffix) surface level.

= (Negative Particle+ (Root+Relation+*Tiṅ* suffix) Underlying level.

= Pn (Rt-R-Ts)

The predominant element in an expression and points of difference according to different approaches are shown below :



Mm	=	Mīmāṁsakas
Ny	=	Naiyāyikas
O	=	Others
Vy	=	Vaiyākaraṇas
→	=	Predominant element

The relational structures according to different approaches are as follows :

bhavati =

1) *bhavanā 'nukūla-vartamāna-kālika-vyāpāraḥ* (Vy.)
2) *bhavanā 'nukūla-kṛtimān* (Ny).
3) *bhavanā 'nukūla-kartṛtva-samānādhi karaṇā bhāvanā* (Mm).

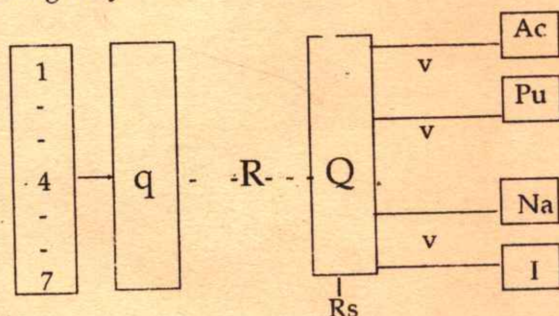
na bhavati =

4) *bhavanā 'bhāvaḥ* (0).

1) an action in the present (leads to) is in favourable of 'being'.
2) (the agent) is possessed of volitional effort (leading to) in favourable of the action 'being'.
3) an action co-occurrent with agenthood (leads to) is in favourable of the action 'being'.
4) absence of 'being'.

1. Theoritical Balance

It is clear from the above approaches that any type of expression is of a qualifier-qualificand type and can be analysed by indicating relations of the embeded constituents. The qualificand may be *vyāpāra* (action), or *bhāvanā* (productive urge or efficient force), or an *avyaya* (indeclinable). The other constituents may be treated as qualifiers. The whole set up may be presented in the following way :



(1...7) Or ...R... (Q (Ac V Pu V Na V I) Rs
Q = Qualificand
q = Qualifier
Rs = Relational Structure
Ac = Action
Pu = Productive urge
Na = Nominative agent
I = Indeclinable
V = Alternation
R and dotted line = Relation
1...7 = Cases and case-endings.

2. Different Theories

A general perspective of different theories of knowledge representation may be presented for a close consideration.

(a) Grammarian's Approach

A sentence is normally put under a *kāraka* frame work in Sanskrit. From Grammatical point of view the whole *kārakā* theory rests on the relationship with *kriyā (verb) which means vyāpāra* (action) as well as *phala* (result).[2] It is only in connection with the verb, the nature of a sentence and its relational structure is determined. The relational structure, as a whole, is a set of relation strewn together which, in other words, is the form of the knowledge embeded in a given sentence. For instance,

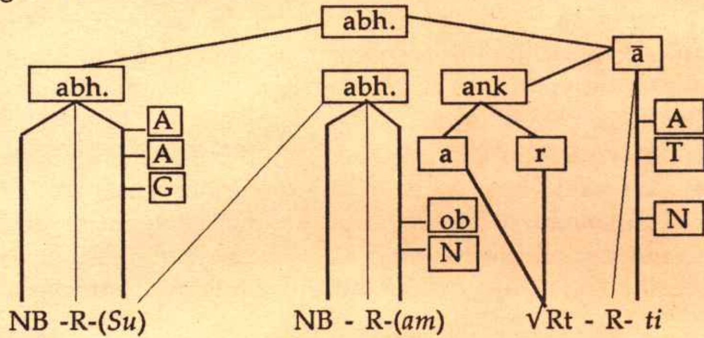
1.	*Rāmaḥ*	*grāmaṁ*	*gacchati.*
	'Rama'	'village'	'goes'.

'Rama goes to the village'.

The relational structure of this sentence is : *Rāmābhinna-kartṛka - grāmābhinna-karmaka- (karmatva-niṣṭhā) - (uttara-deśa) saṁyogā-nukūla - vyāpāraḥ.*

"An action in favourable of connection (with farther region) having an object not different from the village has an agent not different from Rāma."

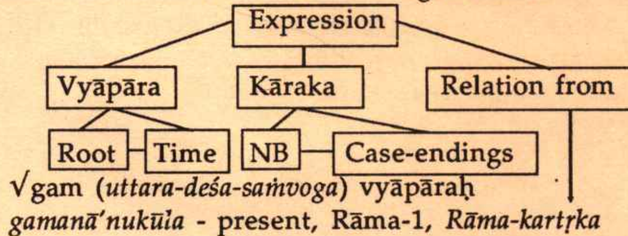
This is generalised and presented in the following diagram :



A = Agent
G = Gender
N = Number
NB = Nominal Base (*Prātipadika*)
Ob = Object
R = Relation
T = Tense
A = action
abh = *abheda* (non-difference)
ank = *anukūlatā* (favourability)
ā = āśrayatā
— = marker of relations
underlined items = suffixes
bracket = case-suffix

Thus the knowledge embeded in all conceivable expressions in the natural language like Sanskrit can be represented with the help of above technique by slight modification of the diagram within the *kāraka* frame work.

The information can be stored to generate such type of relational structures in the following manner.



√gam (*uttara-deśa-saṁvoga*) vyāpāraḥ
gamanā'nukūla - present, Rāma-1, *Rāma-kartṛka*

gamanā ' nukūla - present, grāma-2, *grāma-karmaka*.

√Pac (Viklitti) ... ...

(b) **Naiyāyika's Approach**

According to Nyāya theory the meaning of the verbal suffix - *ti* is *kṛti* (volitional effort). The agent is supposed to possess the volitional effort and thereby, stands prominent being a *kṛtimān*. Since *prathamānta* (nominative agent) is the predominant feature in an expression it influences the whole structure and thus the whole expression is semantically treated as nominative one. The nominative agent serves as the main qualificant to which all other constituents subserve as qualifiers.[3] We can examine the following sentence.

2.	*taṇḍulam*	*pacati*	*Caitraḥ*
	'Rice'	'Cooks'	'Caitra'.

'Caitra cooks rice'.

2a. *taṇḍula-am pac* - ti caitra - su

2b. (NB - (ob-suf.) (Rt - V. - suf.) (NB -(nom-suf.)

Thus the underlying structure of this sentence is :

2c. (NB R^1(-am) *pac* R^2-ti R^3 NB R^4 (-su)

(i) R^1 means niṣṭhatā 'substratum-hood' - a relation indicated by the suffix -am. So it becomes :

taṇḍula-niṣṭha-pākaḥ (viklittiḥ).

'softening occurrent in rice'.

(ii) R^2 means anukūlatva 'cause/favour/support'- a relation between viklitti (softening rice) and kṛti (volitional effort). So the sentence becomes : taṇḍula-niṣṭha-pāka-anukūla-kṛtiḥ 'volitional effort in favourable of softening occurrent in rice'.

(iii) R^3 means āśrayatā 'resorting to' - a relation between volitional effort and the agent. It means the agent is possessed of volitional effort. So the sentence becomes :

'Caitra is possessed of volitional effort in favourable of softening occurrent in rice'.

(iv) R^4 points to abheda 'non-difference' - a relation between nominal base and nominative suffix which indicates number, gender and agency etc.

This can be presented in the following diagrams in two different ways.

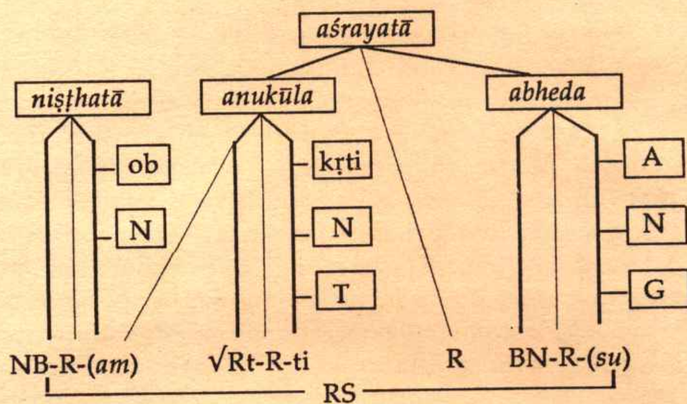


Fig. 1

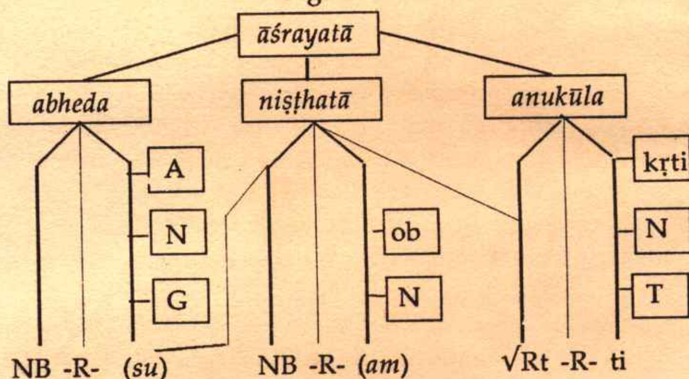
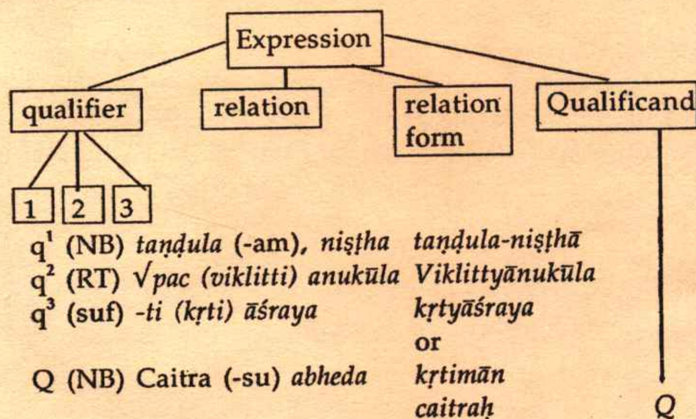


Fig. 2

The exact semantic message of a sentence can be stored in the following manner :



(c) Mīmāṁsaka's Approach

According to Mīmāṁsakas, *bhāvanā* (productive urge which is the meaning of the verbal suffix stands as main qualificant and all other constituents are subordinates to it as qualifiers.[4] The nominal base is mere a *tātparya-grāhaka* (an indicator of what is signified) and it is related to the case suffix by the relation *āśrayatā*.[5] The agent is presented by implication.[6] The meaning of the root (i.e., action and result) agrees with *bhāvanā* signified by the verbal suffix by certain case-relations namely objectness and instrumentality etc.[7] Since *kartā* (agent) is understood as *kartṛtvavān* (possessed of agency), *kartṛtva* is related to *bhāvanā* by the relation *sāmānādhikaraṇya* (co-occurrence), i.e., *bhāvanā* and *kartṛtva* occur in the same substratum namely *kartā* (the agent). The agent is related to *bhāvanā* by the relation *'sva-niṣṭha-kartṛtā-nirūpakatā*, i.e., the relation which is determinant of the angency that subsists in self (*kartā*).[8]

Thus the content of the expression -

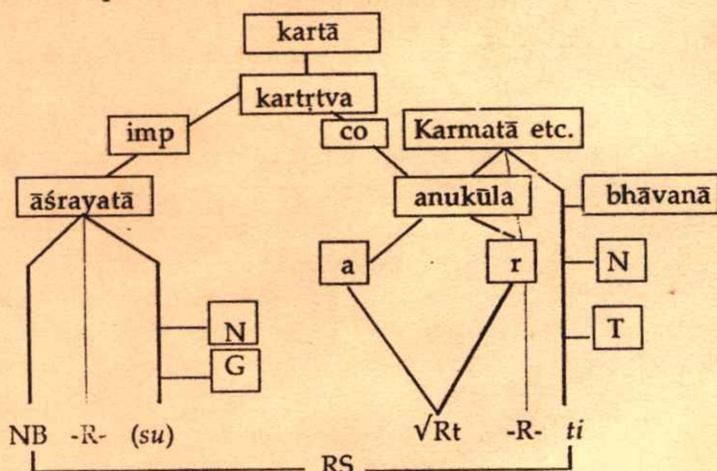
3. *Caitra. pacati* 'Caitra cooks'

is found to be represented as :

3a. *Caitra-niṣṭha-kartṛtva-samānādhikaraṇā pākānukūlā vartamāna-kālikī - bhāvanā.*

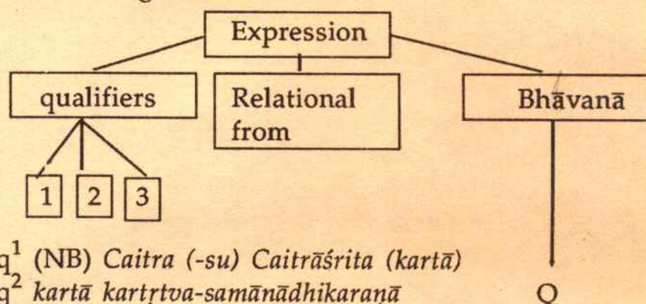
'The activity (productive urge) in favourable of cooking is co-occurrent with agent-hood subsisting in Caitra'.

The following diagram shows the inherent features of the above expression.



imp = implication
co = co-occurrence

The knowledge, according to this theory, may be stored in the following manner.



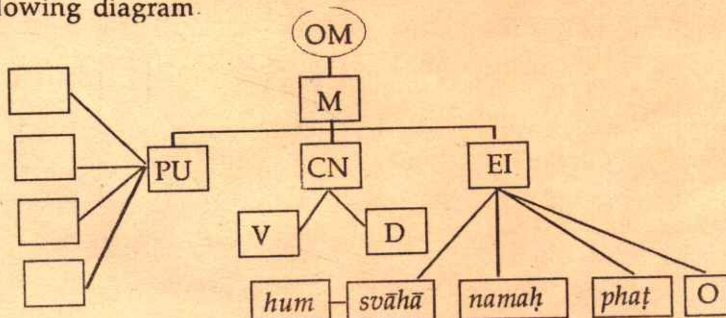
q^1 (NB) *Caitra (-su) Caitrāśrita (kartā)*
q^2 *kartā kartṛtva-samānādhikaraṇā*
q^3 *pac (viklitti)* (-present) *pākānukūlā-vartamānakālikī -ti bhāvanā*

(d) **Other's Approach**

It is found that sometimes indeclinable stands prominent in an expression. An indeclinable not only possesses expressive power but also points to inherent features that it encapsulates. Gadādhara in his *Vyutpattīvāda* (1976:173-175) endorses it and clearly establishes the point[9].

The Tantric texts, the above point, although not straight forward is found to be levelled in the context of meaning of a *mantra.*[10] A *mantra,* according to Tantric notion necessarily consists of certain combination of phonemic codes *(bīja),* vocative or datives, certain indeclinables like *hum, svāhā, namaḥ* and *phaṭ* which indicate the final position and an absence such indeclinables. Further, it is to be noted that a *mantra* also indicates its gender by certain indeclinables. For instance, *hum* indicates masculine, *svāhā* feminine and *namaḥ* neuter.

Thus a mantra can be structurally represented in the following diagram.



Om = Start
M = *Mantra*
PU = Phonemic Units (*bījas*)
CN = Clear Names
V = Vocative
D = Dative
EI = Indeclinable
□-□-□ = related phonemmes (k-l-ī-m)

As far as the aspects of knowledge representation is concerned we can examine the following expressions in which an indeclinable forms a part and stands prominent.

4. *śivāya namaḥ*. 'Obeissance to Lord & Śiva.

This is represented as :

4a.*śiva-uddeśyaka-sva-prayoktṛ-puruṣa-kartṛka-nama-prayukta-tyāgaḥ.*

'The offering, by a person who uses the very word name is intended to Śiva:

5. *svasti bhavate* . 'Blessings/welfare to you'.

The internal structure is :

5a. *bhavadīya-hita-viṣayiṇī - madīyā-ichā.*

'My wish (embeded in the meaning of the word *svasti)* in which your welfare is the content'.

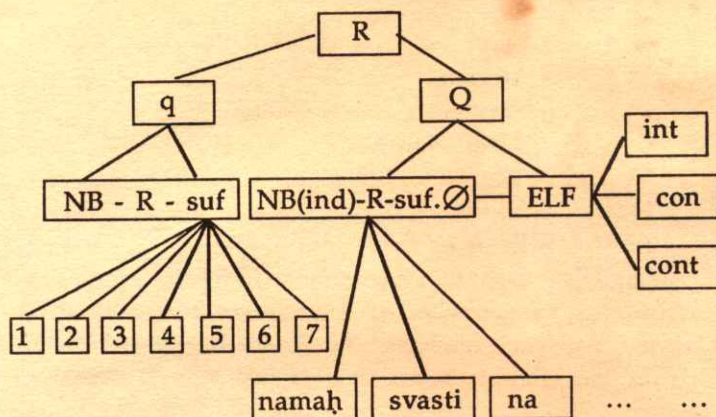
6. *bhūtale na ghaṭaḥ*. 'There is no pot on the ground'. The underline frame is :

6a. *bhūtala-anuyogika-ghaṭa-pratiyogika-abhāvaḥ.*

(There is) an absence in which the pot is counter positive and the ground is locus.'

The above examples show that there are some extra-linguistic factors namely convention, context and intention which have a control over the meaning of an indeclinable. Further, although the suffix of an indeclinable is dropped according to Pāṇinian principle its underlying shares with the meaning of the nominal base and accordingly the meaning of the finished form, i.e. the word, becomes clear. For instance, *naktam* 'night' means not only night but also at night. The locative sense is the sense of dropped suffix. Similarly we have the same situation in other cases also.

Thus, the whole idea may be put in the following diagram.



R = Relation
q = qualifier
Q = Qualificand
ELF = Extra-Linguistic Factors
Con = Convention
Cont = Context
Int = Intention
suf = Suffix
Ø = null
ind = indeclinable
1...7 = case-endings.

3. Why so many Theories ?

There is a general apprehension as to why so many theories came into existence and why the linguistic philosophers incessantly drill into, a definite norm and aspect of knowledge representation. We can have different types of approximations to above apprehension. It is, however, clear that the linguistico- philosophers in Sanskrit have recognised the unique power of an expression and have always tried to develop a mechanism to represent the thought in a planned frame work. Even in case of poetry and criticism they have built frames in an aphoristic way.

In knowledge representation, they have adopted a systematic procedure based on fundamental analysis of the elements in an expression. Each and every theory, therefore, has its own way of understanding the expression with a

particular intentional set up. In spite of the difference in approaches and analysis they mutually help each other to arrive at a definite conclusion. For instance, Grammarian's theory does not hold good in each and every case. Specifically, in the underlying level of *taddhita* formation and such other similar cases the Grammarian's admit the Logician's approach.

Moreover, there are difficulties in all these theories as there is a clear-cut discrepancy in fixing the meaning of a root verb and verbal suffix. It is, therefore, necessary to extract the relevant and executable portions from each theory for the use of computer.

4. Conclusion

An important aspect of knowledge representation is to determine the relation which is an abstraction of elemental interaction of a discrete sequence. The relation forms a major part of knowledge representation having a strong involvement in extra-linguistic factors like convention, context and intiontionality. All these theories, therefore, stand between conceptual approximation of relations and compatibility of semantic and syntactic agreement.

It is now obvious that the above process and the concept of semantic net are, more or less, the same. If the above theories are carefully manipulated these would serve as a powerful tool not only for natural language processing but also for a greater achievement in different applications of modern computer.

NOTES AND REFERENCES

1. *avyayārtha-mukhya-viśeṣya* has not been accepted as a seperate theory by the *śāstrakāras*. But it is clear from their discussion that this theory also contributes to the system of knowledge representation in many cases and therefore, stands to reason. The Tantric texts have also an indirect attestation to this theory.
2. फलव्यापारयोर्धातुराश्रयेतु तिङ् स्मृताः ।
   फले प्रधानं व्यापारस्तिङ् र्थस्तु विशेषणम् ।।
   वैयाकरणभूषणसारः -का.२ स

3. यथा वैयाकरणैराख्यातस्य कर्त्तरि शक्तिरुच्यते ।
चैत्रः पचतीत्यादौ कत्रा सह चैत्रस्य अभेदान्वयः ।
तच्च गौरवात् त्यज्यते । किन्तु कृतौ शक्तिग्रहो
लाघवात् । कृतश्चैत्रादौ प्रकारीभूय भासते ।
न्याय सिद्धान्तमुक्तावली,-शब्दखण्ड, पृ. ७६

4. तत् सिद्धं भावनातिरिक्ताख्यातार्थस्य सर्वस्य भावनायामेव
प्रकारता इति तस्या मुख्य विशेष्यत्वम् । धात्वर्थं प्रति
तु तस्या विशेष्यत्वम् । प्रकृति प्रत्ययौ प्रत्ययार्थ सह
व्रतः तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन इति स्मृतिवशादेव अविवादम् ।
भाट्ट तन्त्ररहस्यम् , पृ. ५७

5. चैत्र इत्यत्र प्रथमार्थः चैत्रः । प्रातिपदिकं चैत्रपदं तु
चैत्र-रूपार्थ-विशेष तात्पर्यग्राहकम् ।
भा.त.र., भूमिका, पृ-४५

6. (क) अतो लाघवात् अनुशासनात् धर्मिज्ञानानुरोधात्
आख्यातस्य कर्त्रादौ लक्षणा ।
भा. त.र., पृ.४६

6. (ख) कर्त्ताख्यातस्य कर्त्तरि, कर्माख्यातस्य कर्मणि निरूढलक्षणा । अतः पचतीत्येतावन्मात्रश्रवणेऽपि पाककर्त्ता एको न वेति विचिकित्सा नोत्पद्यते । भवति पाककर्त्ता क इति जिज्ञासा । अतः पचतीत्यस्मात् पाककर्तृ- प्रतीतिं विना एतदुभयमुपपादयितुं न शक्यते । तस्मात् कर्त्तुः प्रतीतये लक्षणा आवश्यकी ।
भा.त.र., भूमिका, पृ. ४७

7. पचतीत्यस्य पाकं करोति पाकेन करोति इति
द्वेधा विवरणदर्शनात् कर्मत्व-करणत्वान्यतरसम्बधेन
धात्वर्थस्य भावनायमन्वयः ।
भा.त.र., भूमिका, पृ. ४७

8. आख्यातेन निरूढञ्लक्षणया बोध्यः कर्त्ता स्वनिष्ठकर्तृता
निरूपकता सम्बन्धेन भावनायामन्वेति ।
भा.त.र., भूमिका, पृ. ४७

9. न च प्रथमान्तपदार्थस्य मुख्यविशेष्यतानियमः ।
भूतले न घट इत्यादौ निपक्षार्थस्यापि
मुख्यविशेष्यतया भानात् ।
व्युत्पत्तिवादः, पृ., १७३-१७४

10. वरिवस्यारहस्यम् , कारिका -५७-१५७

BIBLIOGRAPHY

1. Bakre M.G. (Edt.) : *Vādārtha-saṁgrahaḥ* (P. I & III), Chowkhamba Vidyabhavan Varanasi, 1913 & 1915.
2. Bhatta Kaunda : *Vaiyākaraṇa-bhūṣaṇa-sāra*, Chowkhamba Amarbharati Varanasi, 1981.
3. Bhattacharya Gadadhar : *Vādavāridhi*, Chowkhamba Sanskrit Series No. 49, Varanasi, 1933.
4. Bhattacharya N.N. : *History of Tantric Religion*, Manohar Publication, New Delhi, 1982.
5. Chaterjee K.N. : *Words and Meaning : A New Perspective*, Chowkhamba Orientalia New Delhi, 1980.
6. Chaturvedi S (Edt.) : *Mantra Mahodadhi* (of Mahidhara) Prachya Prakashan, Varanasi, 1981.
7. Dash K.C. : *Reference : A Logico-Linguistic Identification*, Abhaya House of Publication, Kendraparha, Cuttack, 1986.
8. Guha D.C. : *Navya Nyaya System of Logic*, Motilal Banarasi Dass, New Delhi, 1979.
9. Ingalls Daniel H.H.: *Materials for the Study of Navya Nyaya Logic*, MLBD, 1988.
10. Jha Kirtyananda (Edt.) : *Vyutpattivāda*, Krishnadasa Academy Varanasi, 1976.
11. Miller J : *Semantics and Syntax*, Cambridge University Press,1987.
12. Pattanayak D.P.& Kacharuyamuna : *Relational Grammar*, Central Institute of Indian Languages, Manasagangotri, Mysore, 1985.

13. Shastri Subramanya S. : *Bhāṭṭa-tantra-rahasyam*, Sanskrit Mahavidyalaya, BHU, 1970.

14. Shastri Subramanya S : *Varivasyā-rahasya* (of Bhaskararaya Makhin) Adyar Library & Research Centre, Madras, 1976.

15. Urubshurow V : *Indian Mantra as Transformative Speech Act* Viveka Publication, Aligarh, 1985.

THE CONTRIBUTORS

Radha Vallabh Tripathi
Professor and Head, Sanskrit Department,
Dr. H.S. Gour University, Sagar.

Rajendra Mishra
Professor and Head Sanskrit Department,
H.P. University, Shimla.

Kedar Narayan Joshi
Reader, Sanskrit Department,
Vikram University, Ujjain.

Tribhuvan Nath Shukla
Reader, Department of Hindu and
Linguistics, Rani Durgavati University
Jabalpur.

Ajit Thakur
Reader, Department of Sanskrit,
Sardar Patel University, Vallabh Vidyanagar.

Ram Karan Sharma
Former Vice-Chancellor of Sanskrit
University at Varanasi and Darbhanga and
Director, Rashtriya Sanskrit Sansthan,
N. Delhi. Res.- 63, Vigyan Vihar, N.Delhi.

Ram Sundar Pathak
Professor and Head, Department of English,
Dr. H.S.Gour University, Sagar.

Actyulanand Dash
Lecturer, Department of Sanskrit
Dr. H.S.Gour University, Sagar.

C. Rajendran
Professor, Department of Sanskrit,
Calicut University, Calicut.

(Mrs.) Pushpa Dikshit
Professor, Sanskrit Department,
Govt. Girls College, Bilaspur (M.P.)

Sudyumna Acharya
Director, Vedvani Research Institute,
Kolgavan, Satna (M.P.)

Bhagwandin Mishra
Professor and Head, Department of Linguistics, Dr. H.S. Gour University, Sagar.

(Late) Pratapchandra
Formerly, Reader and Head Department of Philosophy, Dr. H.S. Gour University, Sagar.

Giridharilal Chaturvedi
UGC Research Associate, Lucknow University, Lucknow,

Laxmesh Vallabh Joshi
Reader, Department of Sanskrit Gujarat University, Ahmedabad.

Keshab Chandra Dash
Reader and Head Department of Nyaya, Sri Jagannath Sanskrit Vishva Vidyalaya, Puri.

Anand Kumar Shrivastava
C-632, Guru Teg Bahadur Nagar
Kareli Housing Scheme,
Allahabad (U.P)

Dr. Radha Vallabh Tripathi is at present working as Professor and Head of the Department of Sanskrit, Dr. Hari Singh Gaur University of Sagar. He has published 68 research papers and 46 books. He has conducted a number of research projects. He specialises in Natyasastra and Sahityasastra.

Dr. Achyutanand Dash is lecturer in the Department of Sanskrit, Dr. Hari Singh Gaur University of Sagar. He has published 12 research papers in various journals of International level and has studies Nyaya and Vyakarana with Pt. Shrinivas Shastri at Pune. He has worked with Prof. S.D. Joshi as a researcher and subsequently as a sub. Editor in the Sanskrit Dictionary Project at Deccan College. He specialises in Vyakarana and Linguistics.

ISBN 81-85268-22-3

Some Related Works

			Rs.
Studies in Language Logic & Epistemology			
	V.N. Jha	*1986*	*125*
Studies in the Padapatha's Vedic Philology			
	V.N. Jha	*1986*	*100*
Logic of Non Case Relationship			
	Keshab Chandra Dash	*1992*	*100*
A Transformational Hindi Grammar			
	Madhusudan Mishra	*1993*	*100*

Pratibha Prakashan

(Oriental Publishers & Booksellers)

29/5, Shakti Nagar,

DELHI-110007